सारनाथ की गुप्त-कालीन बुद्ध-प्रतिमा

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य

अर्थात्

चक्रवर्ती चंद्रगुप्त

द्वितीय विक्रमादित्य की जीवनी

लेखक

गंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०

इलाहाबाद

हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०

१९३२

प्रस्तावना

अध्यापक गंगाप्रसाद मेहता जी ने गुप्तचक्रवर्ती चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य पर यह ग्रंथ बहुत अच्छा और बड़ी छानबीन के साथ लिखा है। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ऐसा बड़ा देशत्राता और स्वदेश-स्वधर्म-भक्त हुआ कि उस का इतिहास घर घर में रहना चाहिए। मेहता जी ने और प्रयाग हिंदुस्तानी एकेडेमी ने बहुत समुचित काम किया जो यह पुस्तिका देश भाषा में प्रस्तुत की गई।

इस अनंत और सदाजीवी देश की यह प्रथा है कि देश को संकट से मुक्त कराने वाले राजा को देश विक्रमादित्य की पदवी देता है। यह प्रथा सं० १ अर्थात् ईसवी सन् से ५८ वर्ष पहले जारी हुई। सातवाहन वंशावतंस गौतमीपुत्र शातकर्णि ने नहपाण आदि शक राजाओं का उन्मूलन कर धर्म की रक्षा की। गौतमीपुत्र महाराज शातकर्णि को देश ने विक्रमादित्य के नाम से याद किया और आज तक इसी नाम से उस महानुभाव राजातिराज का यश गान करते हैं। फिर उस के वंशधर सातवाहन विषमशील कुंतल शातकर्णि ने १३५ वर्ष बाद करोढ़ के मैदान में जो लोनी और मुलतान के बीच है दुबारा शकों का संहार कनिष्क के पूर्वाधिकारी के समय में किया जिस का वर्णन गुणाढ्य ने और उस के अनूदक कथासरित्सागर-कार ने किया है। उस शालवाहन या साडवाहन राजा को पुनरपि विक्रमादित्य की उपाधि उसी दिन मिली। फिर भी मथुरा पंजाब आदि में शक कनिष्क-वंशधर जमे रहे और धर्म का लोप करते रहे। इन का पराजय आभीर वंश ने पश्चिम में तथा दूसरे वंशों ने मध्य देश में किया और २५० ई० के लगभग बहुत से वर्णाश्रम के पोषक अर्थात् हिंदूधर्म के पुनरुत्थापक नए वंश उठ खड़े हुए। पर शकराज्य का पूर्ण उच्छेत्ता चंद्रगुप्त (द्वितीय) गुप्तवंश वाले ही हुए। मेहता जी ने प्रथम बार इस को सिद्ध किया है कि महरौली (दिल्ली) का विष्णुस्तंभ

('लोहे की कीली') इन्हीं चंद्रगुप्त की कीर्त्ति का स्तंभ और उन्हीं की कृति है जिसे भक्तिपरायण महाराज ने श्री विष्णुभगवान के चरणों में अर्पित किया था। इस से यह सावित होता है कि चंद्रगुप्त ने आसमुद्र एकराज्य स्थापित किया और पंजाव और कावुल की नदियों को नांघ कर उन के सात मुख अर्थात् शीर्ष पार कर, वल्ख तक जा शक (Yuechi) का नाश किया। वल्ख ही उन का आदिम और केंद्र देश था इस से वाह्लीक, उन के घर तक पहुँचा उन को दुरुस्त करना आवश्यक था। "सप्तसिन्धु" एक चक्र (Province) का नाम था। यह नाम पारसीक भाषा में "हप्त-हिंदु" है। इस चक्र में वल्ख से पंजाव तक शामिल था और पंजाव लेते हुए वल्ख तक विजय करना आवश्यक था। मैं एलन आदि विद्वानों की राय को भ्रांत मानता हूँ जो यह कहते हैं कि सिंधु के मुहाने से हो कर चंद्रगुप्त वलूचिस्तान पहुँचे। जैसे दशमुख, षडानन, चतुर्मुख शब्द हैं, वैसे ही सप्तमुख सिंधु नद कहा गया। यह नद-पुरुष सात-सिरों-वाला वर्णित किया गया। पंजाव की पाँच नदियाँ कावुल नदी और कुनार नदी सातों नाघ कर ही आदमी कावुल कपिशा होता हुआ वाह्लीक पहुँच सकता है। महाकवि कालिदास जो इन्हीं विक्रमादित्य के समय में हुए और राजदूत वना कर दक्षिण (कर्णाट) के राजा कुंतलेश्वर के यहाँ भेजे गए थे, रघु का दिग्विजय वंक्षु नदी (आक्सस) तक अर्थात् वल्ख (Bactria) तक वयान करते हैं। उन्हों ने श्लेष में महाराज चंद्रगुप्त के विजय का वर्णन रघु के नाम पर किया। इस विजय के वाद चंद्रगुप्त का अपने को विक्रमादित्य कहना उचित था।

ऐसा वड़ा विजेता होता हुआ यह राजा परम वैष्णव था। एक अद्भुत लोह का स्तंभ उन्हों ने वनवाया जैसा आज भी युरप में वनाना मुश्किल है। इस में मोर्चा नहीं लगता। अव इसे अनंगपाल की कोली कहते हैं। इसे तोमरराज ने ला कर दिल्ली में विष्णु के मंदिर के सामने स्थापित किया। पहले यह विष्णुपद पर पहाड़ी पर था। यह विष्णुपद गया में नहीं हरिद्वार में था क्योंकि वही राजा अनंगपाल के राज्य में

पड़ता है। इस तरह के स्तंभ का वर्णन शास्त्र में "चंद्रकांत" है। यह गोल और कमलशीर्ष है। चंद्र राज के नाम पर चंद्रकांत शैलो का प्रयोग हुआ। सब हिंदुओं को इस का दर्शन करना चाहिए। राजा चंद्र (विक्रमादित्य) गुप्तवंशी का चरित देश-सेवा के कारण पुनीत हुआ। उस का इतिहास पुनीत है, पाठ्य और श्रद्धेय है।

देश-रक्षा के लिये उस समय हिंदुओं ने विष्णु भगवान् की याद की। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त बाप-बेटे दोनों विष्णु के अनन्य भक्त थे। समुद्र ने एरन (सागर और मालवा के बीच) अपने 'स्व-भोग-नगर' में विष्णु की विशाल मूर्ति स्थापित की।[1] चंद्रगुप्त के धर्म का और देश का उद्धार करने के उपलक्ष में उन के समसामयिक हिंदुओं ने विदिशा के उदयगिरि पहाड़ में एक मूर्ति विष्णु की बनाई जो आजतक मौजूद है। विष्णु पृथ्वी की रक्षा वाराही तनु ले कर कर रहे हैं, वीर-मुद्रा में खड़े अपने दंत-कोटि से एक सुंदरी को उठाए हुए हैं और ऋषिगण स्तुति कर रहे हैं; सामने समुद्र है। यह मूर्ति गुहा-मंदिर के बाहर है। गुहा-मंदिर खाली है, उस के द्वार पर जय-विजय की प्रतिमाएँ अंकित हैं और आस पास गुप्तवंश के सिक्कों वाली मूर्तियाँ दुर्गा और लक्ष्मी जी की हैं। इस वराह-मूर्ति को "चंद्रगुप्त-वराह" कहना चाहिए, क्योंकि यह मूर्ति विशाखदत्त के मुद्राराक्षस वाले भरत-वाक्य का चित्रण है। चंद्रगुप्त ने आर्यावर्त की रानी श्री ध्रुवदेवी का उद्धार शक-म्लेच्छों से किया था और भारत-भूमि का उद्धार म्लेच्छों से किया था। विशाखदत्त कई अर्थवाले

---

[1] समुद्रगुप्त ने उस मूर्ति पर अपनी रानी दत्त-देवी का प्रेम और आदर पूर्वक वर्णन भी अंकित किया। उस ने कहा कि मैं इस व्रतिनी कुलवधू को सिवा अपने पौरुष-पराक्रम के और कुछ ब्याह के समय नहीं दे सका था—'पौरुष-पराक्रम दत्त शुल्का ·····बहुपुत्रपौत्र—संक्रामिणी कुलवधुः व्रतिनी निविष्टा'।

—फ्लीट, गुप्त-शिलालेख, सं० २।

श्लोक लिखते थे, यह 'देवीचंद्रगुप्त' नाटक से सिद्ध है। उन का भरत-वाक्य यह है—

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावस्थितस्यानुरूपाम् ।
यस्य प्राग्दंतकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री ॥
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः ।
स श्रीमद्बंधु भृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चंद्रगुप्तः ॥

इस में कवि ने ('अधुना') वर्तमान चंद्रगुप्त (जिस का अर्थ विष्णु होता है, चंद्र=स्वर्ण, चंद्रगुप्त=हिरण्यगर्भ) राजा की विष्णु से तुलना की। जैसे विष्णु ने इस पृथ्वी का उद्धार म्लेच्छ (असुर) से किया उसी प्रकार दंत-कोटि शस्त्र से मार कर म्लेच्छ से चंद्रगुप्त पार्थिव ने भारत-भूमि और ध्रुव (पृथ्वी) देवी का उद्धार किया। दोनों को रूप बदलना पड़ा था। चंद्रगुप्त ने शक्ति (ध्रुवदेवी) का रूप पकड़ा और विष्णु ने शूकरी-तनु धारण किया अर्थात् रक्षण-कार्य में (अवनविधौ) अयोग्य पर ज़रूरी रूप धारण करना पड़ा।

हिंदुओं ने विष्णु-मत—विष्णु-भक्ति-द्वारा तो भारत की मुक्ति ३५०-३८० ई० में संपादित की, बुद्ध भगवान् जो युद्ध के विरुद्ध थे, उन का त्याग कर हिंदुओं ने विष्णु का सहारा पकड़ा। वे ही राज्य-रक्षण के देवता हैं; उन्हीं राजनैतिक देव को इष्ट माना गया। यही गुप्त-काल की सिद्धि का रहस्य है।

गुप्तों का वर्णन लेखनी को पवित्र करता है। नहीं तो कहाँ 'गुप्तान्वयानां गुणतोयधीनाम्' और कहाँ क्षुद्र ऐतिहासिक

काशीप्रसाद जायसवाल

———

भूमिका

गुप्त-वंश के अभ्युदय-काल को प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास का 'सुवर्ण-युग' मानना सर्वथा संगत है। इस युग में हमारा देश विदेशीय जातियों की चिरकालीन पराधीनता से स्वाधीन हुआ। उस में 'आसमुद्र' हिंदू-साम्राज्य की स्थापना हुई और उस की प्राचीन आर्य-संस्कृति के अंग-प्रत्यंग में फिर से नये जीवन का संचार हुआ। अपने ही शस्त्रद्वारा रक्षित राष्ट्र में 'शास्त्र-चिन्ता' प्रवृत्त हुई—विद्या, कला और विज्ञान के विविध विकास और विलास की अविरल धारा प्रवाहित हुई। भारत के प्राक्तन 'धर्म का प्राचीर बाँधा गया'—उस की मर्यादा स्थापित की गई। आर्य-धर्म के उत्थान के साथ साथ भारत के प्राचीन संस्कृत वाङ्मय की भी इस युग में अपूर्व श्रीवृद्धि हुई। उस में अनेक काव्य, नाटक, शास्त्र और दर्शन रचे गए। उस युग की उत्सर्पिणी क्षमता, आशा और महत्वाकांक्षा के, उस की उन्मेषशालिनी प्रतिभा के, प्रकट करनेवाले कविता-कामिनी-कांत कविवर कालिदास की कमनीय कृतियों की सृष्टि गुप्त-सम्राटों की छत्र-छाया में हुई। वह महाकवि अपने देश-काल की भव्य घटनाओं का चतुर चित्रकार था। उस की प्रखर प्रज्ञा, अपूर्व कल्पना-शक्ति, अलौकिक वाग्विभव, गंभीर पांडित्य में उस के ही समकालीन ओजस्वी युग का जीवन, जागृति, स्फूर्ति और चैतन्य स्पष्ट झलकता है। वास्तव में वह ई० स० के पाँचवें शतक के 'प्रबुद्ध भारत' का परमाराध्य प्रतिनिधि और विदग्ध वक्ता था। उस की अजर, अमर कृतियों में हमें गुप्त-युग की गौरव-गरिमा का प्रत्यक्ष निदर्शन मिलता है।

कालिदास के समय का 'प्रबुद्ध भारत' कैसे जगा और किसने जगाया ? क्या वह किसी वाह्य अथवा दैवी शक्ति से प्रेरित किया गया, अथवा अपने ही किन्हीं सुपुत्रों के पौरुष और पराक्रम के वल पर उठ खड़ा हुआ ? इतिहास के इन जटिल प्रश्नों का करना तो सरल है किंतु

उन का हल करना अतीव कठिन है। इतिहास के अनुशीलन की अनेक शैलियाँ हैं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि इतिहास को महापुरुषों का जीवनचरित समझ कर उस पर मनन करना चाहिए, क्योंकि वे ही अपने देश के भाग्य-विधाता और उन्नति-पथ के प्रदर्शक होते हैं और वे जैसा करते हैं वैसा लोग करने लग पड़ते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में ठीक कहा है—

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥'

अतएव, जिन प्रतापशाली पुरुषों के जन्म और कर्म से उन के देश का कायापलट हुआ हो, जिन के आचार-विचारों से लोक का ध्येय और प्रवृत्ति-मार्ग बदल गया हो, उन के चरित्र-वर्णन मात्र से उन के युग का इतिहास सहज ही समझ में आ सकता है। यह तो इतिहास के पढ़ने की एक परिपाटी है, जो कदाचित् सांगोपांग नहीं है, किंतु सुगम और शिक्षा-प्रद अवश्य है। परंतु, इतिहास की घटनाओं पर विचार करने से हमें महापुरुषों के अतिरिक्त उन घटनाओं के और भी अनेक सूक्ष्म कारण अवगत होते हैं। महापुरुष तो इतिहास के केवल निमित्त-कारणमात्र हैं। उन के जन्म से बहुत पहले ही इतिहास में अप्रत्यक्ष रूप से अनेक शक्तियाँ अपना अपना कार्य किया करती हैं, जो किसी महापुरुष का आश्रय पा कर अचानक अभिव्यक्त हो जाती हैं। यद्यपि इतिहास की कार्य-कारण-परंपरा की मीमांसा करना सरल नहीं, तथापि यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि इतिहास के महापुरुष काल के विशाल गर्भ से उत्पन्न हो कर अपने समकालीन देश और समाज को उन्नति-पथ में अग्रसर करते हैं, और इसलिए उन की चर्या और चरित्र को इतिहास में सर्वथा आदरणीय स्थान मिलना चाहिए। 'राजा कालस्य कारणम्'—राजा काल का कारण है, इस उक्ति में बहुत बड़ा तथ्य है। कालिदास के समसामयिक गुप्त-वंश के चक्रवर्ती नरेश भारत के इतिहास में एक नवीन और भव्य युग के प्रवर्तक थे। उन का आश्रय पा कर समस्त देश जग उठा, हिंदू-जाति

को नसों में नये रक्त का संचार हुआ, वह पुनरुज्जीवित हुई, और उस के धर्म और संस्कृति का प्रवाह चारों ओर बड़े वेग से बढ़ा। उन दिगन्त-विजयी वीरों के प्रताप और पराक्रम की गाथाएँ उनके समय के शिला-लेखों और सिक्कों पर उत्कीर्ण मिलती हैं।

ई० सन् की चौथी शताब्दी के प्रारंभ से पाँचवीं शताब्दी के अंत तक गुप्त-वंश का प्रताप-सूर्य इस देश पर अपने प्रखर तेज से चमकता रहा, जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की दिग्विजय के अनंतर पराकाष्ठा को पहुँचा। उस ने बंगाल की खाड़ी से पश्चिम समुद्र और सिंधु नदी के पार 'वाह्लिक' (बल्ख, वैक्ट्रिया) तक के प्रदेश जीते और शकों की सत्ता को भारत के पश्चिम प्रदेशों और पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांतों में जड़मूल से उखाड़ डाला। अतएव, उस 'शकारि' सम्राट् को पूर्व प्रथानुसार 'विक्रमादित्य' की उपाधि मिली। गुप्त-वंश का दूसरा 'विक्रमादित्य' चंद्रगुप्त का पौत्र स्कंदगुप्त हुआ जिस ने हूणों के आक्रमण से अपने देश और धर्म की रक्षा की थी। इस वंश के पुरुगुप्त और द्वितीय कुमारगुप्त ने भी 'विक्रमा-दित्य' की पदवी प्राप्त की थी। उन के पराक्रम का विशेष पता हमें तत्का-लीन लेखों से नहीं मिलता, तथापि निःसंदेह उन के समय तक गुप्त-वंश का भारत पर प्रभुत्व अविकल रूप से व्याप्त रहा।

अब तक हिंदू-जाति परंपरागत कथाओं और जनश्रुतियों के आधार पर अपने देश, धर्म, कला, विज्ञान और वैभव के रक्षक और पोषक किसी विक्रमादित्य का स्मरण करती थी, किंतु आधुनिक पुरातत्वान्वेषी विद्वानों के श्लाघ्य और अनवरत परिश्रम का ही यह फल है कि आज भारत के इस 'धर्म-विजयी' और 'दिग्विजयी' महापुरुष का, कराल काल के गाल से बचे हुए तत्कालीन शिलालेखों और स्मृति-चिन्हों से शोध कर निकाला हुआ, यथातथ्य और विश्वसनीय इतिहास हमें उपलब्ध हुआ है, अन्यथा 'विक्रमादित्य' की कीर्ति कथामात्र शेष ही रह कर आज इतिहास के पृष्ठ पर सुवर्णाक्षरों में न लिखी जाती।

प्रयाग के अशोक-स्तंभ तथा दिल्ली के लोह-स्तंभ पर उत्कीर्ण प्रशस्तियों से गुप्त-चक्रवर्ती समुद्र और चंद्र के दिग्विजय का पूरा पूरा पता चलता है। समुद्रगुप्त ने 'दैवपुत्र', 'शाही', 'शाहानुशाही' उपाधि के धारण करने वाले, पंजाब, काबुल से आक्सस नदी पर्यन्त देशों पर राज्य करने वाले शकजातीय राजाओं को 'आत्म-निवेदन' करने के लिये बाध्य किया था। इन शकों का 'केंद्र-देश' 'वाह्लीक' (Bactria) में था जहाँ का शक-राजा ईरानी भाषा की 'शाहंशाह' उपाधि अपने नाम के साथ प्रयुक्त किया करता था। इसी देश पर चंद्र ने आक्रमण कर विजय प्राप्त की थी जिस का उल्लेख दिल्ली के लोहस्तंभ पर किया गया है। महाकवि कालिदास ने, समुद्र और चंद्र की दिग्विजयों को मानो प्रत्यक्ष ही देखा था, इस प्रकार से अपने रघुवंश-महाकाव्य में वर्णित किया है। कालिदास का दिग्विजयी 'पारसीकों के जीतने को स्थलमार्ग से प्रस्थित हुआ था, यवन-स्त्रियों के मदमाते चेहरे उसे असह्य लगे थे, अश्व-सेनाओं के द्वारा लड़ने वाले पाश्चात्य लोगों से उस का तुमुल संग्राम हुआ था, अंगूर की बेलों और उत्तम मृगचर्मों से ढकी भूमि पर उस के योधाओं ने मधुपान कर अपने विजयजनित श्रम को दूर किया था, वहाँ से उत्तर दिशा में वह प्रस्थित हुआ और उस के घोड़ों ने 'वंक्षु' (Oxus) नदी के तीर पर कुंकुम-केसर से रंजित कंधों को प्रकंपित किया, उसी स्थल में उस ने हूणों पर अपना विक्रम दिखलाया, कांबोज भी समर में उस के शौर्य के सामने न डट सके।'

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थल वर्त्मना।
यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः॥
संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः।
विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्॥
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु।
ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्॥
विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः।

दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुंकुमकेसरान् ॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः ॥

[रघु, ४, ६०-६९]

कालिदास के पूर्वोद्धृत विजय-वृत्तांत में उस के समय की घटनाओं की प्रतिध्वनि स्पष्ट प्रतीत होती है। 'पारसीक' और 'वाह्लीक' में राज्य करने वाले शक 'शाहंशाह' जुदे-जुदे न थे, एक ही थे। उस के उत्तर में हूण लोग आक्रमण कर ई० सन् की चौथी सदी के अंतिम चरण में 'वंक्षु' (आक्सस) नदी के किनारे आ बसे थे। भारत के सीमाप्रांतों की ऐसी ही ऐतिहासिक परिस्थिति में दिल्ली के लोह-स्तंभ के राजा चंद्र ने सिंधु के सात मुखों को लाँघ कर समर में वाह्लिकों को जीता था—'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिंधोर्जिता वाह्लिकाः।' पुरातत्वज्ञ जोन एलन की व्याख्यानुसार सिंधु के सात मुहानों को पार कर राजा चंद्र बल्ख़ (वाह्लिक) तक नहीं पहुँच सका होगा किंतु उस ने कहीं बलोचिस्तान के ही आसपास भारत पर हमले करने वाले किन्हीं विदेशियों को परास्त किया होगा। परंतु एलन महाशय ने उक्त व्याख्या करते हुए यह शंका नहीं उठाई कि सिंधु के सात ही मुहाने क्यों कहे गए, अधिक क्यों नहीं ? 'मुख' शब्द का प्रयोग संस्कृत में द्वार के अर्थ में होता है—'मुखं तु वदने मुख्यारंभे द्वाराभ्युपाययोरिति यादवः।' सिंधु के सात द्वारों को—उद्गमों को—लाँघ कर चंद्र बल्ख़ तक पहुँचा था। श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल का उक्त कथन युक्तिसंगत मालूम होता है। काबुल से पंजाब तक का प्रदेश प्राचीन काल में 'सप्तसिंधु'—'हप्तहिंदु'—कहलाता था जिस के पश्चिम में 'वाह्लिक' नाम के जनपद थे। इस प्रसंग में यद्यपि मैं ने एलन, फ़्लीट, स्मिथ आदि विद्वानों की व्याख्या एवं मत का इस पुस्तक में अनुसरण किया है तथापि मुझे यह सहर्ष स्वीकृत है कि श्रीयुत जायसवाल जी की उक्त कल्पना और अर्थसंगति नितांत मौलिक और उपादेय है। संक्षेप यह है कि चंद्र की विजय-प्रशस्ति में जिन बातों का उल्लेख है वे सभी चंद्रगुप्त

विक्रमादित्य के समय के शिलालेखों, सिक्कों तथा पूर्वापर इतिहास के पर्य-वेक्षण से तत्कालीन ही प्रमाणित होती हैं। इस गुप्त-कुलावतंस विक्रमादित्य के राज्य-काल में भारतीय प्रजा का जीवन सुखमय, शांतिमय, सदाचार और पुण्य में अभिरत था, जैसा कि हमें चीन के बौद्ध यात्री फ़ाहियान के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है। कदाचित् अपने ही समय के श्रमजीवियों के—ईख की छाया में बैठी हुई शालि के खेतों की रखवाली करने वाली स्त्रियों के सुख-शांतिमय जीवन का सजीव चित्र—नीचे लिखे सुंदर शब्दों में अंकित कर इस युग के कविशिरोमणि कालिदास ने अपने ही उदाराशय आश्रय-दाता सम्राट् का गुणगान किया हो—

इक्षुच्छाय निषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ [रघु, ४, २०]

'राजाधिराजर्षि' चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का वृत्तांत विद्यमान ऐतिहासिक साधनों से जितना कुछ उपलब्ध हुआ है उस का विवेचन और विचार मैं ने यथाशक्ति इस पुस्तक में किया है। मैं ने इस में यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि कुतुबमीनार के समीप के लोह-स्तंभ पर खोदी हुई चंद्र की विजय-प्रशस्ति का न तो प्रथम चंद्रगुप्त से और न पुष्करण के राजा चंद्रवर्मा से संबंध है, किंतु उस में चंद्र विक्रमादित्य की ही दिग्विजय का स्पष्ट विवरण है। उक्त प्रशस्ति के सभी सारभूत कथन उस के राज्यकाल के उत्कीर्ण लेखों से पुष्ट और प्रमाणित होते हैं। उदाहरणार्थ, उस के सिक्कों पर लिखा रहता है—

'क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः'

तथा

'नरेंद्रचंद्रः प्रथितश्रिया दिवं जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः।'

इन लेखों की और उक्त प्रशस्ति में

'मूर्त्या कर्मजितावनीं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ'—

'चंद्राह्वेन समग्रचंद्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता'—

उत्कीर्ण पंक्तियों की भाषा और भाव बहुत मिलते जुलते हैं।

समुद्रगुप्त के विजय-प्रशस्ति की बहुत सी उल्लेखयोग्य बातों की सविस्तर चर्चा मैं ने पाद-टिप्पणियों में न दे कर एक तत्संबंधी अध्याय के साथ 'प्रथम परिशिष्ट' के रूप में पाठकों की सुविधा के लिये जोड़ दी है।

अंत में, प्रयाग की हिंदुस्तानी एकेडेमी के संचालकों तथा पुरातत्व-विद् श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल का मैं अत्यंत आभारी हूँ जिन्हों ने इस ग्रंथ के प्रणयन में मुझे पर्याप्त प्रोत्साहन और सहायता कृपा कर प्रदान की। इति।

हिंदू-विश्व-विद्यालय काशी
१. १. १९३२ } गङ्गाप्रसाद महता

ग्रंथ-सूची

गुप्त-कालीन भारत के इतिहास का अध्ययन करने के लिये निम्न-लिखित ग्रंथ-सूची अत्यंत उपयोगी है, जिस की सहायता इस पुस्तक के प्रणयन में यत्रतत्र ली गई है।

१ फ़्लीट—गुप्त काल के शिलालेख।

२ जोन एलन—गुप्त-वंश के सिक्कों का सूचीपत्र।

३ विंसेंट स्मिथ—भारत का प्राचीन इतिहास।

४ „ „ ब्रिटिश म्यूज़ियम के सिक्कों का सूचीपत्र।

५ „ „ भारत और सिंहल की ललित कला का इतिहास।

६ रैप्सन—भार के सिक्के।

७ रामकृष्ण गोपाल भंडारकर—भारत के प्राचीन इतिहास का दिग्दर्शन।

८ हेमचंद्रराय चौधुरी—प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास।

९ गौरीशंकर हीराचंद ओझा—राजपूताने का इतिहास।

१० „ „ „ प्राचीन लिपिमाला।

११ „ „ „ मध्यकालीन भारत की सभ्यता।

१२ राखालदास वंध्योपाध्याय—नंदी-व्याख्यान-माला, हिंदू विश्व-विद्यालय।

१३ प्राचीन मुद्रा।

१४ कोडरिंगटन—प्राचीन भारत।

१५ हेवल—भारतीय तक्षण और चित्रकला।

१६ लेगे तथा गाइल्स—फ़ाहियान का यात्राविवरण।

१७ स्टेन कोनो—खरोष्ठी शिलालेख।

१८ मेवल डफ—भारत की तिथि-क्रम-तालिका।

१९ वाटर्स—ह्वानच्वांग की भारत-यात्रा।

२० वेरीडेल कीथ—संस्कृत साहित्य का इतिहास।
२१ वेनीप्रसाद—प्राचीन भारत में राजशासन।
२२ विश्वेश्वरनाथ रेउ—भारत के प्राचीन राजवंश।
२३ एस० कृष्णस्वामी ऐयंगर—गुप्त-इतिहास का अध्ययन।
२४ जूवो ड्यूवर्‌योल—दक्षिण का प्राचीन इतिहास।
२५ पार्जिटर—कलियुग के राजवंश।
२६ स्टाइन—राजतरंगिणी।
२७ बाण—हर्षचरित।
२८ सोमदेव—कथासरित्सागर।
२९ राजशेखर—काव्यमीमांसा।
३० विशाखदत्त—मुद्राराक्षस।
३१ कालिदास—रघुवंश।
३२ एपिग्राफिआ इंडिका।
३३ इंडियन एंटिक्वेरी।
३४ जर्नल आव् दि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटो।
३५ भंडारकर-स्मारक-लेखमाला।
३६ जर्नल आव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी।
३७ आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट।
३८ केंब्रिज हिस्टरी आव् इंडिया—भाग १।

विषय-सूची

पृष्ठ

पृष्ठ

चित्र-सूची

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य

प्रथम अध्याय

मगध साम्राज्य

भारत के पूर्व भाग में मगध देश अति प्राचीन काल से हमारे इतिहास में प्रसिद्ध है। महाभारत के समय से ही यह देश भारतीय सभ्यता का केंद्र था। पुराणों में मगध के राजवंशों का क्रमबद्ध वर्णन मिलता है। महाभारत के समय में भी मगध का राज्य सब से अधिक शक्तिशाली था। उस समय मगध के सम्राट् जरासंध ने अनेक राजाओं को जीत कर कारागार में डाल रखा था। जब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करना चाहा तब श्रीकृष्ण ने जरासंध से युद्ध करने की उसे सलाह दी, क्योंकि उस का प्रताप सारे आर्यावर्त में उस समय छा रहा था। इस देश के शासक चिरकाल से सम्राट् बनने की इच्छा किया करते थे। उन का साधारण राजाओं की भाँति 'राज्याभिषेक' न होता था, किंतु वे साम्राज्य के निर्माण करने की उत्कट इच्छा से ही अभिषिक्त हुआ करते थे। इस का परिणाम यह हुआ कि कई सदियों तक मगध राज्य का प्रभुत्व सारे भारत पर छाया रहा—उस की विजय-वैजयंती सर्वत्र फहराई। मगध देश में ही ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में महात्मा महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने जैन और बौद्ध धर्म की स्थापना की थी। इन्हीं क्षत्रिय राजकुमारों ने 'अहिंसा' और

'विश्व-प्रेम' का कल्याणकारी संदेश जगत् को सुनाया था। इन के समकालीन शिशुनागवंश के बिंबिसार और अजातशत्रु मगध के राजा थे। इस वंश का राज्य लगभग साढ़े तीन शतक तक मगध पर रहा। यहाँ अजातशत्रु और उदय ने पाटलिपुत्र नाम का नगर बसाया जो मगध साम्राज्य का कई सदियों तक केंद्र बना रहा। गंगा और सोन नदी के संगम पर यह विशाल नगरी बसी। ई० स० पूर्व चौथी शताब्दी में यवन राजदूत मेगस्थनीज़ ने स्वयं इस का अवलोकन किया था। उस ने भारत की इस 'अमरपुरी' का जो वर्णन लिखा है, उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं। उस के कथन के अनुसार उस नगर की लंबाई नौ मील और चौड़ाई डेढ़ मील थी, उस के चारों ओर काठ का बना हुआ परकोटा था, जिस में ६४ फाटक और ५७० बुर्ज थे। परकोटे के चारों ओर एक गहरी खाई थी जिस में सोन नदी का पानी भरा रहता था। इस राजधानी में राजमहल शहर के बीचोंबीच थे और विशालता और सुंदरता में संसार में सब से बढ़ कर थे। इन के सुनहरे खंभों पर सुवर्ण के अंगूर की बेलें और चाँदी के बने पक्षी शोभा बढ़ाते थे। ये राजभवन एक बड़े रमणीक उद्यान में बने थे। सुंदर वृक्ष, लता और सरोवर इन भवनों की भव्यता को बढ़ा रहे थे। मेगस्थनीज़ ने स्पष्ट लिखा है कि पाटलिपुत्र के राजभवन ईरान के जगत्प्रसिद्ध राजभवनों से तड़क भड़क और शान शौकत में कहीं बढ़ कर थे। इन की और उन की कोई समता नहीं हो सकती थी। ई० स० पूर्व ३२७ में जब यूनान का प्रतापी बादशाह सिकंदर पंजाब पर आक्रमण कर रहा था उस समय मगध में नंद वंश का राज्य था। यह शूद्र वंश था। इस के अत्याचारों से प्रजा में घोर असंतोष था। इस के कोष और सेना की शक्ति अतुल थी। सिकंदर की सेना को इस शक्ति का सामना करने का साहस न हुआ और पंजाब की ब्यास नदी से उसे अपने देश को वापिस लौटना पड़ा। इधर मगध में नंद वंश के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हुई। ब्राह्मण चाणक्य ने नवीन नंद वंश को जड़ से उखाड़ कर फेंक देने का क्रांतिकारी झंडा उठाया और पूर्व नंद के वंशज चंद्र-

गुप्त मौर्य को उस का पक्ष लेकर मगध की राजगद्दी पर विठाया। चाणक्य नीति-शास्त्र का वड़ा आचार्य और सब विद्याओं में पारंगत था। वह पंडित और देशभक्त था। चंद्रगुप्त को मगध का राज्य देकर उस ने अनेक राष्ट्रों में विभक्त भारत को एक कर एक महान साम्राज्य की स्थापना की। पंजाब के पश्चिमोत्तर प्रांत से सिकंदर की राज-सत्ता को चंद्रगुप्त मौर्य ने नष्ट किया और कुछ काल के उपरांत पश्चिम एशिया के सम्राट् सेल्युकस को युद्ध में परास्त कर हिंदूकुश पर्वत तक मौर्य-साम्राज्य का विस्तार किया। ई० स० पूर्व तीसरी सदी में मगध के सिंहासन पर चंद्रगुप्त का पौत्र अशोक वैठा। राजगद्दी पर वैठने के आठ वर्ष वाद उस ने अपने कलिंग युद्ध में लाखों मनुष्यों का संहार हुआ देख कर और उस से अतीव उन्मनस्क हो कर वौद्ध धर्म की दीक्षा ली और तद-नंतर अपने संपूर्ण जीवन को धर्म के लिये व्यतीत किया। वौद्ध धर्म स्वीकार कर उस के प्रचार के लिये उस ने तन, मन, धन से पूरा प्रयत्न किया। अपने समस्त साम्राज्य में और देशांतरों में उस ने मनुष्य और पशुओं के लिये औषधालय स्थापित किए, सड़कों पर जगह जगह कूएँ खुद-वाए, वृक्षों के कुंज लगवाए और पांथशालायें वनवाईं। अशोक अपने आप को प्रजा का ऋणी मानता था और उस के ऐहिक और पारत्रिक कल्याण के लिये भरसक उद्योग करता था। सर्वत्र उस ने जीवहिंसा, व्यर्थ व्यय, परनिंदा और धार्मिक असहिष्णुता को रोकने की चेष्टा की, और दया, मैत्री, सत्यता, पवित्रता, आध्यात्मिक ज्ञान तथा धर्म का उपदेश कर ने का प्रयत्न किया। उस के भेजे हुए उपदेशक भारत का धर्म और संस्कृति फैलाने के लिये एशिया, यूरुप और अफ्रीका के महाद्वीपों में पहुँचे।

अशोक के प्रताप से वौद्ध धर्म का प्रभाव जगद्व्यापी हो गया। जो देश और जातियाँ अव तक असभ्य थीं उन में भारतीय संस्कृति का प्रचार अशोक के भेजे हुए आचार्यों ने किया। अशोक सभी धर्म वालों का संमान करता और यह मानता था कि मनुष्य के लिये सृष्टि का उपकार करने से वढ़ कर अन्य कोई धर्म नहीं है। अशोक का विशाल साम्राज्य

हिंदूकुश से बंगाल की खाड़ी तक और हिमालय से माइसोर तक फैला हुआ था। उस की मित्रता भारतवर्ष से बाहर दूर दूर के विदेशी राजाओं से थी। अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य-साम्राज्य का ह्रास होने लगा। अब सामंत राज्य स्वतंत्र होने लगे। भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यवन लोगों के आक्रमण फिर से होने लगे। अशोक के वंशज साम्राज्य की रक्षा करने में असमर्थ थे। मौर्यवंश की शक्ति के क्षीण होने पर चाणक्य के सदृश एक नीति-निष्णात शुंगवंशी ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने अपने स्वामी अंतिम मौर्य बृहद्रथ को मार कर मगध-राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। उस ने यवनों को सिंधु नदी के तट पर परास्त किया और परिक्षीण मगध-साम्राज्य का फिर से गौरव स्थापित किया। उस ने यवनों के भीषण आक्रमणों से आर्यावर्त की रक्षा की।[1] अपनी विजय-यात्रा के समाप्त होने पर उस ने अश्वमेध-यज्ञ किया। वैदिक प्रथा के अनुसार अश्वमेध-यज्ञ करने के अधिकारी केवल 'चक्रवर्ती' नरेश होते थे। पुष्यमित्र शुंग के प्रताप और पराक्रम को आर्यावर्त के सभी नरेशों ने स्वीकार किया। वह ब्राह्मण धर्म का बड़ा पक्षपाती था। उस की संरक्षता में वेद-धर्म और संस्कृत विद्या की उन्नति हुई। पुराणों ने शुंग वंश का राज्य-काल ११२ वर्ष तक का लिखा है। तदनुसार, ई० स० पूर्व १८५ से ई० स० पूर्व ७३ तक मगध-राज्य पर इस ब्राह्मण वंश का अधिकार रहा। शुंगवंश के अधिकार-काल के पश्चात् तीन शताब्दियों तक मगध का प्रतापसूर्य मेघाच्छन्न हो जाता है। तीन सौ वर्ष तक इस के इतिहास का कुछ पता नहीं चलता।

निःसंदेह, यह मगध-साम्राज्य के ह्रास का समय था। भारत के पश्चि-

---

[1] "ततः साकेतमाक्रम्य पांचालान्मथुरांस्तथा।
यवना दुष्टविक्रांता प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥" गार्गीसंहिता।

'अरुणद्यवनः साकेतम्।'
'अरुणद्यवनो माध्यमिकान्।' } महाभाष्य

मोत्तर प्रांतों में यवन, शक, पार्थियन, कुशान आदि विदेशी लोगों के आक्रमण इस युग में बराबर जारी थे। अंततः, हमारे देश का बहुत बड़ा भाग विदेशियों के अधीन हो गया। मगध-राज्य की शक्ति के शिथिल होने पर, उत्तर और दक्षिण भारत पर विदेशियों का दौर दौरा तीन चार सदियों तक जमा रहा। ईसा के जन्म से प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व और तत्पश्चात् दो सौ वर्ष तक यवन, शक, कुशान आदि विदेशी जातियों ने भारत पर अपना प्रभुत्व जमाया था। प्राचीन सिक्कों और शिलालेखों से इन सब जातियों के अनेक राजाओं के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। उत्तर हिंदुस्तान में इन राजाओं के हज़ारों सिक्के मिले हैं। शक संवत् के प्रारंभ से (ई० स० ७८) लगभग एक शताब्दी तक कुशनवंश का सार्वभौम साम्राज्य अधिकांश भारतवर्ष पर और भारत के बाहर पश्चिम में आक्सस नदी तक और चीनी तुर्किस्तान तक फैला हुआ था। इस वंश में कनिष्क महाप्रतापी राजा हुआ। वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी और उस के प्रचार में संलग्न था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। तत्वदर्शी नागार्जुन, आयुर्वेदाचार्य चरक, संस्कृत के उद्भट कवि और नाट्यकार अश्वघोष, बौद्ध-धर्म के महान आचार्य पार्श्व और वसुमित्र आदि प्रतिभाशाली विद्वान सम्राट् कनिष्क के दानमान के पात्र थे। कनिष्क की मृत्यु के उपरांत कुशन-साम्राज्य का धीरे धीरे ह्रास होने लगा। तब से आरंभ कर ई० स० की तृतीय शताब्दी के अंत तक भारत का इतिहास घोर अंधकार से ढका हुआ है।[1] उस समय इस देश की कैसी राजनीतिक स्थिति थी,

---

[1]भारत के इतिहास में गुप्त वंश के उत्थान के पूर्व की शताब्दी अंधकारमय है। उत्तरापथ में कुशन-साम्राज्य और दक्षिणापथ में आंध्रसाम्राज्य दोनों प्रायः एक ही साथ पतनोन्मुख हो जाते हैं और भारत के दोनों देशों में छोटे छोटे खंड राज्य स्थापित होने लगते हैं। पुराणों से भी तीसरी सदी में भारत की ऐसी ही अस्तव्यस्त राजनीतिक दशा का पता चलता है। मत्स्यपुराण के अनुसार इस समय के राजवंशों की तालिका निम्नलिखित प्रकार की है—

यहाँ क्या क्या राजनीतिक घटनाएँ हो रही थीं, कनिष्क का साम्राज्य किस प्रकार छिन्न भिन्न हो रहा था इत्यादि इतिहास की समस्याओं के हल करने का हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। तीसरी सदी का भारतवर्ष

	राजवंशों के नाम	राजाओं की संख्या	राज्य-काल
१	श्री पर्वतीय, आंध्रभृत्य	सात	५२ वर्ष
२	आभीर	दस	६७ ,,
३	गर्धभिल	सात	७२ ,,
४	शक	अठारह	१८३ ,,
५	यवन	आठ	८७ वा ८८ वर्ष
६	तुषार	चौदह	१०७ वा १०५ वर्ष
७	गुरुंड वा मुरुंड	तेरह	२०० वर्ष
८	हूण	ग्यारह	१०३ ,,

उक्त राजवंशों के राजाओं की संख्या तथा उन के राज्य-काल के विषय में पुराणों के सिवा और कोई पक्का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। तथापि उपर्युक्त राजवंशों की सूची इसलिये बड़े महत्त्व की है कि इस से ई० स० की तीसरी सदी के भारत के राजनीतिक विभाग स्पष्ट प्रकट होते हैं। पुराणों में निर्दिष्ट इन राजवंशों में बहुतों का पता शिलालेखों से भी चलता है और उन के स्थान भी भारतवर्ष के तत्कालीन नक़्शे में दिखाये जा सकते हैं। आंध्रभृत्यों का राज्य श्रीपर्वत (कर्नूल ज़िले में श्रीशैल) के आस पास था। आभीरों का राज्य बरार से कोंकण और काठियावाड़ तक था। गर्धभिलों की स्थिति राजपूताने के दक्षिण-पश्चिम भाग में मालूम होती है। शकवंशी राजा मथुरा, तक्षशिला, सिंध, मालवा आदि प्रदेशों पर शासन कर चुके थे वा कर रहे थे। यवनों का काबुल से बैक्ट्रिया तक और भारत में पंजाब तक राज्य रह चुका था। तुषार शायद कुशानवंश के थे जिन के राज्य की सीमा एक समय पाटलिपुत्र तक थी। समुद्र-

मौन धारण कर रहा है। कदाचित् वह निर्जीव हो कर पड़ा है और इसलिये कहीं से कुछ भी इस के जीवन की घटनाओं की प्रतिध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। किंतु ई० स० की तीसरी शताब्दी का अवसान होने पर जैसे पूर्व दिशा में अरुणोदय की लालिमा छा जाती है, वैसे ही अकस्मात् भारत के पूर्व प्रांत में एक प्रतापशाली हिंदू राजवंश की ज्योति जगमगा

गुप्त की इलाहाबाद वाली प्रशस्ति में शकों और मरुंडों का उल्लेख है। जैन ग्रंथों में मरुंडराज को क़न्नौज का राजा लिखा है। वह पाटलिपुत्र में रहता था। चीनी ऐतिहासिकों ने भी उसे पाटलिपुत्र का राजा लिखा है।[1]

मालूम होता है कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में मरुंड-राज्य का विशेष प्रभाव था। ये राजा विदेशी थे और इन का राज्य गंगा के आसपास था। कदाचित् इन के पतन के साथ ही गुप्त राज्य का उदय हुआ हो। मथुरा और चंपावती के नागवंश और प्रयाग, साकेत (अवध) और मगध के गुप्तवंश का उल्लेख पुराणों में मिलता है।[2] पूर्व मालवा के राजवंश में, जिस की राजधानी विदिशा थी, विंध्यशक्ति के पुत्र प्रवीर के राजा होने का पुराणों में उल्लेख है। बहुत संभव है कि ये दोनों राजा वाकाटक वंश के विंध्यशक्ति और प्रवरसेन हों जिन का बहुत कुछ इतिहास दक्षिण के शिलालेखों और ताम्रपत्रों से मिला है।[3]

पुराणों के पूर्वोक्त वंश-वृत्त कालक्रमानुसार न होने से क्रमबद्ध इतिहास के रूप में नहीं लिखे जा सकते। परंतु इन के आलोचन से इतना तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि गुप्त और वाकाटक वंश के अभ्युदय होने के पूर्व के शतक में सारा भारतवर्ष खंड-राज्यों से आकीर्ण था। विदेशी राजाओं का भी अधिकार भारत के बहुत बड़े हिस्सों पर था। इन सब छोटे छोटे राज्यों को एकछत्र शासन के

[1] जोनएलन—गुप्तवंश के सिक्कों का सूचीपत्र। पृष्ठ २९।

[2] अनुगंगा प्रयागञ्च साकेतं मगधांस्तथा। एतांजनपदांसर्वान्भोक्ष्यंते गुप्तवंशजाः। (वायुपुराण)। ... ...

[3] एस० कृष्णस्वामी एयंगर—गुप्त-इतिहास का अध्ययन, अध्याय १

उठती है। इतिहास के रंग-मंच पर फिर से भारतीय प्रतिभा के अभिनव खेल—नये नये दृश्य—हमें देखने का सौभाग्य होता है। इस राजवंश का उत्थान मगध देश में हुआ। हिंदू इतिहास में यह वंश 'गुप्तों का राजवंश' के नाम से प्रसिद्ध है। इस के उदय के साथ ही मगध में फिर अखिल भारतीय साम्राज्य-निर्माण का सूत्रपात हुआ। इस के निर्माण करने वाले कैसे पराक्रम के पुतले थे, वे कैसे तेजस्वी और मनस्वी थे इस की चर्चा आगे चल कर हम करेंगे।

अधीन करना और देश का विदेशियों के अधिकार से उद्धार करना, भारत की प्राक्तन संस्कृति को पुनरुज्जीवित करना, उस की प्रसुप्त प्रतिभा को फिर से जगाना, उस के धर्म, कला, विज्ञान, साहित्य में अभिनव जीवन का संचार करना, ये सारी घटनाएँ, भारत के इतिहास के रंग-मंच पर गुप्त-वंश के उदय होते ही घटित होने लगती हैं। इन्हीं कारणों से आजकल के इतिहासकार गुप्त-काल को प्राचीन भारत के इतिहास का 'सुवर्ण-युग' बतलाते हैं और इस की तुलना यूनान के इतिहास में पेरीक्लीज़ के और इंगलैंड के इहिहास में महाराणी एलिज़बेथ के काल से किया करते हैं।

दूसरा अध्याय

गुप्त राजवंश

भारत के प्राचीन इतिहास की शोध से पता चलता है कि श्रीगुप्त अथवा गुप्त मगध के नये राजवंश का संस्थापक था जिस के नाम पर यह वंश गुप्त नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। उस का पूर्ववर्ती राजवंशों से क्या संबंध था इस का कुछ भी उल्लेख इस समय के शिलालेखों में तो नहीं मिलता, परंतु उक्त वंश के पिछले समय के राजाओं के लेखों में गुप्त वंशियों का चंद्रवंशी होना लिखा है।[1] इस पुराण-प्रसिद्ध प्राचीन चंद्रवंश

---

[1] गुप्त-वंश के राजा क्षत्रिय थे। उन के विवाह-संबंध 'लिच्छिवि' और 'वाकाटक' आदि क्षत्रिय वंशों के साथ होने के प्रमाण मिलते हैं। उन के नाम के साथ 'गुप्त' लगा रहने से उन्हें वैश्य मान लेना भ्रम है। पिछले समय के गुप्त राजाओं के लेखों में उन का चंद्रवंशी होना लिखा है। म० म० श्रीमान् गौरीशंकर ओझा ने 'राजपूताने के इतिहास' में लिखा है कि गुप्तों के महाराज्य नष्ट होने के बाद भी उन के वंशजों का राज्य मगध, मध्यप्रदेश और गुत्तल (बंबई प्रांत के धारवाड़ ज़िले में) आदि पर रहा था। गुत्तल के गुप्तवंशी अपने को उज्जैन के महाप्रतापी राजा चंद्रगुप्त (विक्रमादित्य) के वंशज और सोमवंशी मानते थे (बंबई गज़ेटियर, जि० १, भाग २, पृ० ५७८) सिरपुर (रायपुर, मध्यप्रदेश) से मिले हुए महाशिवगुप्त के शिलालेख में वहाँ के गुप्तवंशी राजाओं को चंद्रवंशी बतलाया है—

(आसीच्छशीव) भुवनाद्भुतभूतभूतिरुद्भूतभूतपति (भक्तिसमः) प्रभावः।

का पुनरुत्थान ई० स० की तीसरी शताब्दी के अंतिम चरण से प्रारंभ हुआ और सातवीं सदी के मध्य काल तक इस प्रतापी वंश की सत्ता भारतवर्ष में जीती जागती रही। लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों का भारत-वर्ष का शृंखलावद्ध इतिहास गुप्त-काल के आरंभ से लिखा जा सकता है। इस इतिहास के निर्माण करने में हमें अधिक क्लेश भी नहीं होता, क्योंकि इस युग का तिथि-क्रम प्रायः निश्चित सा ही है। गुप्त नरेशों की वंश-परं-परा का और उन के पृथक् पृथक् राज्य-काल का पता तत्कालीन शिला-लेखों से हमें मिलता है जिन के आधार पर इस युग का क्रम-वद्ध इतिहास रचा जा सकता है।

महाराज श्रीगुप्त

गुप्तवंश के शिलालेखों में श्रीगुप्त के नाम के साथ केवल 'महाराज' की उपाधि का उल्लेख है। इस से अनुमान होता है कि वह किसी वड़े राजा का सामंत था। उस का पुत्र घटोत्कच भी 'महाराज' ही कहलाता था, परंतु उस का पौत्र प्रथम चंद्रगुप्त 'महाराजाधिराज' की उपाधि से प्रसिद्ध हुआ। तीन पीढ़ियों की अवधि में इन नरेशों का 'महाराज' से 'महा-राजाधिराज' की पदवी पर आरूढ़ हो जाना यह सूचित करता है कि ये किसी वड़े राजा के सामंत न रह कर अव स्वतंत्र हो गए। इस समय के शिलालेखों में 'महाराज' की उपाधि का प्रयोग केवल सामंत राजाओं के नाम के साथ होता था। चीन देश के वौद्ध यात्री इत्सिंग ने, जो भारत-वर्ष में सातवें शतक के अंत में आया था, अपने यात्रा-विवरण में यह लिखा है कि महाराज श्रीगुप्त ने लगभग ५०० वर्ष पूर्व चीन के तीर्थ-यात्रियों के लिये मगध के मृगशिखावन में एक मंदिर वनवा कर उस के

चंद्रान्वयैकतिलकः खलु चंद्रगुप्त राजाख्यया पृथुगुणः प्रथितः पृथिव्याम्॥

ए० ई० जि० ११, पृ० १९०

गौ० ही० ओझा—राज० का इति० पृष्ठ ११३-११४

ख़र्च के लिये २४ ग्राम दान में दिए थे। इस मंदिर के भग्नावशेष इत्सिंग ने स्वयं देखे थे, जो उस के समय में 'चीन के मंदिर' के नाम से प्रसिद्ध थे। इत्सिंग के 'श्रीगुप्त' गुप्तवंश के संस्थापक महाराज गुप्त ही प्रतीत होते हैं। चीनी यात्रियों के प्रति उन की उपकारपरायणता की कथा इत्सिंग ने मगध देश में सुनी थी। यदि विदेशियों के प्रति महाराज गुप्त इतने दानशील थे तो अपनी मगध की प्रजा के हित करने में वे कितने अधिक दत्तचित्त होंगे इस का हम सरल रीति से अनुमान कर सकते हैं। महाराज श्रीगुप्त का राज्य-काल ई० स० २७५ से ३०० तक का अनुमान किया गया है।

महाराज घटोत्कचगुप्त, महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त (प्रथम)

श्रीगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी महाराज घटोत्कच गुप्त हुआ। इस के नाम का सोने का केवल एक सिक्का मिला है, जो रूस के प्रसिद्ध नगर लेनिनग्रेड के अजायबघर में रखा है, परंतु मुद्रातत्वविद् जेम्स ऐलन इस सिक्के को महाराज घटोत्कच का नहीं मानते। घटोत्कच का पुत्र चंद्रगुप्त इस वंश में पहला प्रतापी राजा हुआ। उस ने प्रथम वार 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की, अपने नाम से सोने के सिक्के चलाए और अपने राज्याभिषेक के समय से 'गुप्त-संवत' प्रचलित किया। चंद्रगुप्त का विवाह लिच्छिवि वंश की राजपुत्री कुमारदेवी के साथ हुआ था। उस के सिक्कों पर उस की और उस की रानी की मूर्तियाँ और नाम अंकित होने से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि चंद्रगुप्त का लिच्छिवि राजपुत्री कुमारदेवी से विवाह-संबंध ही गुप्तवंशियों के भावी अभ्युदय का कारण था। प्राचीन भारत के इतिहास-लेखक विंसेंट स्मिथ का मत है कि चंद्रगुप्त प्रथम के समय मगध पर शायद लिच्छिवियों का अधिकार होगा, जिसे उन्हों ने कुमारदेवी के विवाह में चंद्रगुप्त को भेट कर दिया होगा। परंतु यह मत कोरी कल्पनामात्र है। क्योंकि एक तो चीनी यात्री इत्सिंग के लेख से स्पष्ट है कि महाराज गुप्त के समय से ही मगध

गुप्तवंशियों के अधिकार में था, और दूसरे चंद्रगुप्त प्रथम के 'महाराजाधिराज' की उपाधि ग्रहण करने से सिद्ध होता है कि वह स्वयं मगध का प्रतापशाली राजा था। तथापि, इस में संदेह नहीं कि लिच्छिवि वंश के साथ के संबंध को गुप्तवंशी नरेश अपने बड़े सौभाग्य की बात समझते थे। महात्मा बुद्ध के समय में लिच्छिवियों का प्रजातंत्र राज्य वैशाली (वर्तमान मुज़फ़्फ़रपुर, विहार) में था। बौद्धों के 'दीघनिकाय' में लिखा है कि लिच्छिवियों ने बुद्ध की अस्थि का विभाग यह कह कर माँगा था कि 'भगवान भी क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं'। जैनधर्म के प्रवर्तक 'महावीर स्वामी' भी वैशाली के क्षत्रिय कुल में जन्मे थे। इस प्रसिद्ध लिच्छिवि कुल की राजकुमारी कुमारदेवी से प्रथम चंद्रगुप्त ने विवाह किया। गुप्तवंश के भावी अभ्युदय का यह विवाह संबंध मुख्य कारण हुआ इस कल्पना की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं मिलता। गुप्तवंशियों ने अपने ही बाहुबल और प्रतिभा से इतिहास में गौरव प्राप्त किया। उन के उत्थान के कारण उन्हीं के असाधारण गुण-कर्म थे। इस वंश के इतिहास में एक समय ऐसा था कि द्वारिका से आसाम तक और पंजाब से नर्मदा तक का सारा देश उस के अधीन था और नर्मदा से दक्षिण के देशों में भी उस की विजय का डंका बजा था।

चंद्रगुप्त प्रथम का राज्य प्रयाग से पाटलिपुत्र तक था। वायुपुराण में, गंगा तट का प्रदेश, प्रयाग, अयोध्या तथा मगध का गुप्तवंशियों के अधीन होना लिखा है जो चंद्रगुप्त प्रथम के समय की राज्य-स्थिति प्रकट करता है।

अनुगंगा प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एताञ्जनपदांस्सर्वान् भोक्ष्यंते गुप्तवंशजाः॥

इस छोटे से राज्य का प्रभाव बढ़ते बढ़ते अखिल देश व्यापी हो गया। ईसा के चौथे शतक में गुप्तवंश की प्रभुता सारे भारतवर्ष में जम गई। हज़ारों मील लंबे चौड़े इस देश में एकछत्र राज्य के स्थापित करने वाले

मौर्यवंश के लगभग साढ़े पाँच सौ वर्ष के बाद गुप्तवंशी सम्राट् हुए। इस वंश में कई बड़े वीर, धर्मनिष्ठ और स्वदेश रक्षक राजा हुए थे। इन के जीवन चरित्र के विषय में सविस्तर जानने की इच्छा हमें होना स्वाभाविक है। परंतु, हमारे पास इस जिज्ञासा की पूर्ति के बहुत ही कम साधन हैं। अतएव, इन के समय के शिलालेख, सिक्के और साहित्य से जो कुछ इन के कारनामें हमें मालूम होते हैं उन से ही हमें संतुष्ट होना पड़ता है। यदि ये इतिहास के जानने के इतने भी साधन खोज कर न निकाले जाते तो हमारे देश के इन वीर पुरुषों का चरित्र सदा के लिये विस्मृति में विलीन हो जाता। किंतु धन्य है आजकल के प्राचीन इतिहास के शोधकों को जिन के परिश्रम से हमें इस प्रतापी वंश के इतिहास के जानने के साधन प्राप्त हुए हैं।

गुप्तवंश का साम्राज्य-विस्तार

महाराजाधिराज श्रीसमुद्र गुप्त

हम पहले कह चुके हैं कि चंद्रगुप्त प्रथम ने अपने राज्यारोहण दिवस से अपना राज्य-संवत् प्रचलित किया था। वही संवत् उस के पुत्र पौत्रादिकों के लेखों में भी प्रचलित रहा और उसी का नाम गुप्त संवत् हुआ। इस गुप्त संवत् को प्रचलित करने वाला चंद्रगुप्त प्रथम अवश्य ही स्वतंत्र और प्रतापशाली राजा हुआ होगा इस में हमें कुछ संदेह नहीं है, क्योंकि पराधीन और सामंत राजाओं के अपने राज्य-संवत् चलाने के उदाहरण हमें इतिहास में नहीं मिलते।

डाक्टर फ़्लीट के मतानुसार उपर्युक्त गुप्त संवत्[१] का प्रथम वर्ष ई० स० ३२० से शुरू होता है। महमूद गज़नवी के साथ भारत में आने वाले विद्वान अलबेरूनी का कथन है कि गुप्त संवत् शक संवत् (ई० स० ७८) से २४२ वर्ष बाद प्रारंभ हुआ था। अर्थात् गुप्त संवत् ७८ + २४२ = ई०

---

[१] 'गुप्त-संवत्' इस शीर्षक का परिशिष्ट देखिए।

स० ३२० में शुरू हुआ। इस संवत् की तिथि के निश्चित होने से गुप्तवंश के इतिहास का तिथि-क्रम ठीक ठीक स्थिर हो चुका है।

प्रथम चंद्रगुप्त का राज्य-काल लगभग १५ वर्ष ई० स० ३२०-३३५ तक माना गया है। उस की मृत्यु के पश्चात् उस का महाप्रतापी पुत्र समुद्रगुप्त मगध के राजसिंहासन पर बैठा। अपनी बाल्यावस्था से ही वह इतना गुणी और होनहार था कि उसके पिता चंद्रगुप्त प्रथम ने अपने सब पुत्रों में ज्येष्ठ न होने पर भी उसी को अपना उत्तराधिकारी चुना था। अखिल पृथ्वी के पालन करने का भार उसे उस के पिता ने हर्ष के आँसू बहा कर अपने राज दरबार के सभ्य वृंद के सामने सुपुर्द किया था। अपने पिता से राज्य-भार को स्वीकार कर के समुद्रगुप्त ने अपनी योग्यता का जगत् को पूर्ण परिचय दिया। उस के राजत्व-काल का सविस्तर इतिहास हमें प्रयाग के क़िले में स्थित, अशोक के लेख वाले विशाल स्तंभ पर खुदे हुए, संस्कृत भाषा के गद्य और पद्य में रचित लेख से मिलता है। इस संस्कृत लेख की भाषा बहुत ही प्रांजल और ओजस्वी है। समुद्रगुप्त के आश्रित संस्कृत के महाकवि हरिषेण ने इस लेख की रचना की थी। इस में उस की विजय-यात्रा का सविस्तर वर्णन है जिस के आधार पर उस के साम्राज्य-विस्तार की सीमाएं निर्धारित की जा सकती हैं। इस वीर विजयी की विजय-यात्रा का वृत्तांत प्रयाग के स्तंभ लेख में, जिस पर धर्म के जयघोष करने वाले सम्राट् अशोक का भी लेख खुदा हुआ है,[1] इस प्रकार लिखा है। 'इस

---

[1] शांतिप्रिय अशोक के लेख वाले स्तंभ पर युद्ध-प्रिय समुद्रगुप्त की विजय-प्रशस्ति के उत्कीर्ण किये जाने में हमें कुछ अनुचित नहीं लगता। दोनों सम्राटों में बहुत बातें समान थीं। दोनों अपने अपने धर्म की मर्यादा स्थापित किया चाहते थे। अशोक ने इस लेख द्वारा आज्ञा दी थी कि किसी को भी भिक्षुसंघ के नियम न तोड़ने चाहिएं। समुद्रगुप्त का भी इस लेख द्वारा अपने धर्म की मर्यादा स्थापित करने का उद्देश्य था—'धर्मप्राचीरबंधः'।

समुद्रगुप्त ने सैकड़ों युद्धों में विजय प्राप्त की थी। इस का शरीर शस्त्रों से लगे हुए सैकड़ों घावों से शोभायमान था। वह अपने भुज-बल पर ही भरोसा रखता था।' उस समय के भारत की प्रायः सभी शक्तियों ने उस

उस ने अपनी प्रशस्ति धर्म-विजयी अशोक के स्तंभ पर कदाचित् इसलिये लिखवाई कि उस के भी गुण-कर्म अशोक के बहुत कुछ सदृश थे। अशोक की भाँति समुद्रगुप्त, प्रशस्तिकार की दृष्टि में, दानवीर, दयालु, मृदुहृदय, कृपण, दीन, अनाथ और आतुर जनों का उद्धारक था। दोनों ही लोकानुग्रह की मूर्तियाँ थीं। इस अशोक के कीर्ति-स्तंभ पर ही समुद्रगुप्त के 'प्रदान', 'पराक्रम', 'प्रशम' और शास्त्र-परिशीलन के प्रख्यात करने वाली प्रशस्ति का लिखवाना सर्वथा समंजस था।*

'मृदुहृदस्यानुकंपावतोऽनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणमंत्र दीक्षाद्युपगतमनसः समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य सुचिरस्तोतव्यानेकाद्भुतोदारचरितस्य—

'प्रदान भुजविक्रमप्रशमशास्त्रवाक्योदयैः.........यशः'

विंसेंट स्मिथ के मत में अशोक-स्तंभ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति का उत्कीर्ण होना अविनय और अनौचित्य की पराकाष्ठा है। आप लिखते हैं कि समुद्रगुप्त कट्टर हिंदू, ब्राह्मणों के शास्त्रों का पंडित और रण-रसिक योद्धा था। आश्चर्य है कि उसे इस में लेश भर भी संकोच न हुआ कि उस ने उस स्तंभ पर धर्म-विजयी (अशोक) के शांतिपूर्ण उपदेशों के बराबर अपने रक्तरंजित युद्धों के क्रूरता और दर्प से भरे वर्णन लिखवाए।

*"Samudragupta, an orthodox Hindu, learned in all the wisdom of the Brahmans, and an ambitious soldier full of the joy of battle, . . . made no scruple about setting his own ruthless boasts of sanguinary wars by the side of the quietest moralizings of him who deemed 'the chiefest conquest' to be the conquest of piety."—*Early History of India*, p. 298.

का लोहा माना था। सब से पहले उस ने अपने निकटवर्ती आर्यावर्त के राजाओं को युद्ध के लिये ललकारा और उन्हें परास्त किया। आर्यावर्त के नौ राजाओं के नाम इस लेख में लिखे हैं जिन्हें उस ने नष्ट कर अपना प्रभाव बढ़ाया। सारे उत्तरापथ को जीत कर समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ अर्थात् नर्मदा के दक्षिण के देश को जीतने का बीड़ा उठाया। अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से चल कर विहार और उड़ीसा के वनमय प्रदेश के दो

विंसेंट स्मिथ का 'ऐतिहासिक विवेक' किस अंश तक खरा वा खोटा है इस पर पाठक ही स्वयं विचार करें। क्या अशोक ने धर्म-विजय के पूर्व कोई भयानक युद्ध नहीं किया था? क्या समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में केवल युद्धों का ही वर्णन है? क्या दूसरे शिलालेखों से इस प्रशस्ति में लिखी हुई बातें प्रमाणित नहीं होतीं? जो विशेषण हरिषेण ने समुद्रगुप्त के नाम के साथ जोड़े हैं क्या उन का उस की मुद्राओं पर आभास नहीं मिलता? इन प्रश्नों के उत्तर से स्मिथ महाशय निरुत्तर हो सकेंगे। सच तो यह है कि हरिषेण की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त का वृत्त और चरित्र प्रायः इतिहास-दृष्टि से निबद्ध किया गया है, काव्य-रूप से नहीं। उस की रचना में कवि ने यथार्थ घटनाओं और चरित्र-गत गुणों का क्रमबद्ध वर्णन लिखा है। डाक्टर फ्लीट ने इसे देख कर कहा है कि शिलालेख और ताम्रलेखों को देखते हुए पुराने हिंदुओं में इतिहास लिखने की क्षमता सिद्ध होती है। पौराणिक और काव्य-वर्णनों से इन लेखों की प्रथा बिलकुल भिन्न है। इन की परंपरा और शैली दस्तावेज़ी है। पूरा नाम, उपाधियाँ, धाम, वंश-क्रम, स्थान, मिति, संवत् देते हुए ये अपना करण-कारण विदित करते हैं। समुद्रगुप्त के समय की ऐतिहासिक घटनाओं और उस के जीवनचरित को अंकित करते हुए महाकवि हरिषेण ने एक एक अक्षर तोल कर इस प्रशस्ति को रचा है, जिस में इतिहास भरपूर और काव्यांश थोड़ा है।

हम इस महाकवि के अत्यंत कृतज्ञ हैं जो नेपोलियन से किसी अंश में कम नहीं था, वरन् यह कहना चाहिए कि किसी किसी बात में उस से बढ़ कर

राजाओं को उस ने परास्त किया। वहाँ से वह दक्षिण की ओर मुड़ा और भारत के पूर्व तट की महानदी और कृष्णा नदी के बीच के देशों को जीतता हुआ अपने राज्य को लौट आया।

मद्रास प्रांत के कांजीवरम् (कांची) तक समुद्रगुप्त के हमले हुए। वहाँ इस समय पल्लव वंश का राज्य था। अपने दलबल से उस ने दक्षिणापथ के इन अनेक राजाओं को परास्त किया, परंतु फिर अनुग्रह के साथ उन्हें मुक्त कर अपनी कीर्ति बढ़ाई। उन के राज्यों को छीन कर गुप्त-साम्राज्य में मिला लेना समुद्रगुप्त को अभीष्ट न था। वह तो सिर्फ़ यह चाहता था कि उस का एकछत्र शासन भारत के सभी नरेश एकमत होकर स्वीकार करें। जिन्हों ने उस की इस इच्छा का विरोध किया उन से युद्ध घोषणा कर के वह लड़ाई लड़ा। यह मानना भूल है कि समुद्रगुप्त के आक्रमण दक्षिण के मालाबार, महाराष्ट्र, पश्चिमी घाट आदि प्रांतों पर हुए। दक्षिण के जितने स्थानों का उस के शिलालेख में उल्लेख है वे पूर्व तटवर्ती थे। पर इस में संदेह नहीं कि उस का प्रखर प्रताप सारे ही दक्षिण देश पर लंका द्वीप तक छा गया था। सीमांत प्रदेश के राजाओं ने भी समुद्रगुप्त के प्रभुत्व को स्वीकार किया। दक्षिण बंगाल, कामरूप (आसाम), नेपाल, कुमाऊँ, गढ़वाल आदि पूर्व और उत्तर के राज्यों के 'प्रत्यंत' नरेश उस के अधीन हो कर उसे कर देने लगे। गुप्त-राज्य के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में अनेक ऐसी जातियाँ पूर्व काल से बसी हुई थीं, जिन में प्रजातंत्र राज्य था, जो 'गण-राज्य' कहलाते थे। समुद्रगुप्त ने उन जातियों से

था, उस समुद्रगुप्त के नाम का निशान भी हमारी साहित्य-ग्रंथ-राशि में नहीं है। उस का इतिहास उस के समय की लिखी हरिषेणकृत प्रशस्ति से आविर्भूत हुआ है। भारतीय ऐतिहासिक लेखों में पूरा पूरा विशद विवरण देने के कारण यह स्तंभ-लेख असाधारण महत्त्व का है।*

*'An epigraphic record unique among Indian annals in its wealth of detail.'—Allen, *Gupta Coins*, p. xx.

भी कर वसूल किया। पंजाव, राजपूताना, मालवा और मध्य प्रदेश में वसे हुए ऐसे अनेक 'गण-राज्य' थे, जो उस के करद और वशंवद बन गए। इन स्वतंत्रता-प्रेमी जातियों ने बड़ी कठिनाई से ही उस का सामंत वनना स्वीकार किया होगा।

इन राज्यों के अतिरिक्त इस वीर विजयी ने विदेशी राजाओं के दाँत खट्टे किए। वे भारतवर्ष में अव भी वर्तमान थे। उन का बहुत वड़ा राज्य भारत के पश्चिमी प्रांत गुजरात और काठियावाड़ में फैला हुआ था। शक जाति के 'महाक्षत्रप' वहाँ राज्य कर रहे थे। इस शक राज्य के अलावा पश्चिमोत्तर पंजाव से आक्सस नदी के तीर तक समुद्रगुप्त के समय में कुशन वंश के राजा शासन कर रहे थे। कुशन वंश के सिक्कों से पाया जाता है कि ये राजा 'देव पुत्र, शाही, शहानुशाही' आदि उपाधियाँ धारण किया करते थे। समुद्रगुप्त के लेख में इन्हीं उपाधियों से इन राजाओं का उल्लेख है। इस से ज्ञात होता है कि पश्चिमोत्तर भारत और उस के वाहर ईरान तक 'शाह' और 'शाहंशाह' के उपाधि-धारी विदेशी राजाओं ने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया। ये सारे विदेशी राजा सम्राट् समुद्रगुप्त के समक्ष अनमोल उपहार ले कर उपस्थित होते और अपने अपने राज्य के उपभोग और शासन करने की उस से आज्ञा माँगते थे। चीन के इतिहासकारों ने लिखा है कि लंका के राजा मेघवर्ण ने ई० स० ३६० के आस पास समुद्रगुप्त के दरवार में अमूल्य मणि-रत्नों के उपहार समेत अपने राजदूत इसलिये भेजे थे कि उसे वोधगया में सिंहल द्वीप (लंका) से आने वाले वौद्ध यात्रियों के विश्राम के लिये एक मठ वनवाने की आज्ञा दी जाय। समुद्रगुप्त ने सिंहल के राजा की प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार किया। तदनंतर राजा मेघवर्ण ने गया में एक विशाल मठ वनवाया और उसे वहुत कलाकौशल से सजा धजा कर उस में बुद्धदेव की रत्न जटित सुवर्ण-प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा करवाई। सातवीं शताब्दी में भारत में पधा-रने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस विशाल मठ को वोधगया में स्वयं देखा था। उस के कथनानुसार उस समय इस मठ में महायान पंथ के एक

हज़ार बौद्ध भिक्षुक रहा करते थे और वहाँ लंका के तीर्थ यात्रियों का खूब अतिथि-सत्कार होता था।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट सिद्ध है कि समुद्रगुप्त ने हजारों कोसों की विजय-यात्रा की, भारतवर्ष के कोने कोने में उस की विजय के डंके बजे। जहाँ कहीं वह गया वहाँ उस का लोहा माना गया। पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी से पश्चिम में यमुना और चंबल तक, उत्तर में हिमालय से दक्षिण में नर्मदा तक समुद्रगुप्त का राज्य विस्तृत था, जिस पर वह स्वयं शासन करता था। इन सीमाओं के बाहर उत्तर भारत में जो जो राज्य थे वे सभी उस के साम्राज्य के अधीन हो गए। दक्षिण भारत के अनेक राजा उस के पराक्रम से वशीभूत हो कर उस के आश्रित बन गए। विदेशी राजाओं ने उस के प्रखर प्रताप के सामने अपने अपने सिर झुकाए। पश्चिम एशिया की ऑक्सस नदी से लंका द्वीप पर्यंत उस की कीर्ति-पताका फहराई। इस चक्रवर्ती हिंदू सम्राट् की तुलना फ्रांस के वीर योद्धा नैपोलियन बोनापार्ट से की जाती है। परंतु नैपोलियन की विजय-यात्रा में रूस के मौस्को नगर से पलायन करना और वाटरलू में योरुप की संमिलित शक्तियों से परास्त होना ये दो जैसी घटनाएं हैं वैसी समुद्रगुप्त के जीवन में कहीं भी नहीं हुईं। हज़ारों कोसों की दिग्विजय कर के उस ने अपने अतुल साहस, अद्भुत पराक्रम और अपूर्व संगठन-शक्ति का जगत् को परिचय दिया। ऐसे समय में जब रेल, तार, मोटर जैसे शीघ्रगामी यात्रा के साधन न थे, जब लोग—'निस दिन चलें अढ़ाई कोस'—इस से अधिक सामर्थ्य वाले न थे, तब बड़ी सेना को लेकर कोसों दूर देशों पर धावा करना एक राजा का परम साहस का काम था और फिर उन धावों में सफल होना उस की कार्य-क्षमता और संगठन-शक्ति का ज्वलंत उदाहरण था।

सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ किया था और उस में दान और दक्षिणा देने के लिये सुवर्ण के पदक वा सिक्के ढलवाए थे। उन सिक्कों पर एक ओर यज्ञ-स्तंभ में बँधे हुए घोड़े की मूर्ति और दूसरी ओर हाथ में चँवर लिये समुद्रगुप्त की महारानी की

मूर्ति अंकित है और उन पर 'अश्वमेध-पराक्रम:'[1]—अर्थात् अश्वमेध-यज्ञ करने का पराक्रम जिस ने किया—लिखा रहता है। दूसरे शिलालेखों से पता चलता है कि उस ने चिरकाल से न होने वाले अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था और न्याय से उपार्जित अपना असंख्य धन—सुवर्ण और गौओं को—उस ने यज्ञ की दक्षिणा में दिया था। प्राचीन भारत में केवल प्रतापशाली राजा ही अश्वमेध यज्ञ करने का साहस करते थे। जो राजा इस यज्ञ के लिये छोड़े हुए घोड़े को अपने राज्य में घूमने देते थे वे अश्वमेध करने वाले राजा की प्रभुता मान लेते थे, परंतु जो उस घोड़े को पकड़ लेते थे वे उस से युद्ध करने के लिये कटिबद्ध हो जाते थे। इस युद्ध में विजयी राजा का आधिपत्य विजित राजा स्वीकार कर लेता था। जब वह घोड़ा दूसरे राज्यों से बिना किसी बाधा के लौट आता था तब यज्ञ होता था, जिस में दूसरे राजा संमिलित होकर विजयी राजा को 'चक्रवर्ती'—'राजाधिराज'—मान लेते थे। इस यज्ञ के करने वाले को अपने ही राज्य का नहीं वरन् समस्त देश की रक्षा का भार अपने कंधे पर लेना पड़ता था। अपने देश के धर्म और संस्कृति को सर्वत्र फैलाने का उत्तरदायित्व भी उस के ही सिर बँधता था। जब कभी इस देश में ऐसे 'चक्रवर्ती' राजा हुए तभी इस का बहुत बड़ा भाग राजनीतिक एकता के सूत्र में बँध जाता था और इस की रक्षा भी भली प्रकार से होती थी। जब भारत में यवनों के आक्रमण हुए तब चक्रवर्ती मौर्य-नरेशों ने और उन के पश्चात् शुंगवंशी ब्राह्मण राजाओं ने देश की रक्षा की। जब शक और कुशनवंशी विदेशी राजाओं की इस देश पर सत्ता जमी तब चक्रवर्ती

---

[1]लखनऊ के म्यूज़ियम में एक बदसूरत पत्थर का घोड़ा रखा है। उस पर "द गुत्तस देय धम्म" टूटे अक्षरों में लिखा हुआ था। कदाचित् यह समुद्रगुप्त के अश्वमेध का स्मारक हो। रैपसन को एक मुहर मिली थी जिस पर घोड़े की आकृति और "पराक्रमः" खुदा हुआ था। जे० आर० ए० एस० १९०१—पृष्ठ १०२।

गुप्तवंशियों ने भारत में एकछत्र शासन स्थापित किया। जब पाँचवीं शताब्दी के मध्य से हूण लोगों के भारत में हमले शुरू हुए तब सम्राट् स्कंदगुप्त, यशोधर्मन्, प्रभाकरवर्धन तथा हर्षवर्धन आदि महाप्रतापी हिंदू नरेशों ने विदेशियों के आक्रमण और पराधीनता से इस देश को बचाया। ऐसा अनुमान होता है कि विदेशियों के आक्रमण के समय धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिये इस देश में 'एकाधिपत्य' राज्य स्थापित करने की तीव्र इच्छा हिंदू नरेशों के हृदय में जाग उठती थी। हमारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस देश में साम्राज्य की स्थापना से हमारे धर्म, संस्कृति और स्वतंत्रता की रक्षा अवश्य हुई।

समुद्रगुप्त केवल युद्धकला में ही पटु न था, किंतु वह राजनीति में भी बड़ा दक्ष था। जिस प्रकार उस ने अपने साम्राज्य की शासन-व्यवस्था की थी उस पर विचार करने से हमें उस की प्रगल्भ नीति-निपुणता का परिचय मिलता है। गुप्त साम्राज्य को चिरस्थायी बनाना ही उस की नीति का ध्येय था। सारे विजित देशों को अपने ही राज्य में मिला कर उन पर हुकूमत करना उस ने नीतिविरुद्ध समझा। सिर्फ़ उत्तर भारत के कुछ छोटे छोटे राज्यों को तो उसे अपने साम्राज्य में मिलाना पड़ा। इस प्रकार आर्यावर्त के छिन्न भिन्न राष्ट्रों को एक कर उस ने वहाँ अपनी सुदृढ़ और निष्कंटक सत्ता स्थापित की। आर्यावर्त के राजाओं के प्रति उस का व्यवहार कठोर था। उस ने उन का देश छीन लिया और यह इसलिये कि उन के स्वतंत्र रहने से आर्यावर्त में राष्ट्रीय एकता स्थापित न हो सकती थी और न पश्चिमोत्तर भारत में समय समय पर होने वाले विदेशियों के हमले ही रोके जा सकते थे। गुप्त-साम्राज्य के सीमा-प्रांतों को सुरक्षित रखने के लिये उस ने मगध और उड़ीसा के मध्य के जंगल के राजाओं को अपना सेवक बनाया। समुद्रगुप्त की इस चतुर नीति के कारण वे जंगल के लोग गुप्त-राष्ट्र के सहायक बन गए होंगे। शेष सीमांत राज्यों में उस का प्रचंड शासन उसे कर दे कर, उस की आज्ञा मान कर, उसे प्रणाम कर के पूरा किया जाता था। किंतु सम्राट् समुद्रगुप्त सर्वथा प्रचंड

नीति का ही अवलंबन न करता था। जो राजवंश अपने अपने अधिकार से भ्रष्ट हो गए थे, जो अपना राज्य खो बैठे थे, उन्हें उस ने फिर से राजा बनाया और स्वयं जीते हुए नरेशों का धन उन्हें फिर वापिस दे दिया। दक्षिण के दूरवर्ती राजाओं के प्रति उस ने निग्रह की नहीं, बल्कि अनुग्रह की नीति का पालन किया। उस ने उन्हें युद्ध से वश में कर फिर अनुग्रह के साथ उन्हें मुक्त कर दिया। उस ने दूर के राष्ट्रों के राजवंश नष्ट न किए। विदेशी राजा उस की विविध प्रकार से सेवा करते थे और अपने राज-शासन के लिये उस से फरमान माँगा करते थे। सिंहल (लंका) के राजा मेघवर्ण से समुद्रगुप्त का मित्रता का संबंध था। इस प्रकार उस ने अपनी उदार और निर्दोष नीति की भित्ति पर गुप्त-साम्राज्य का निर्माण और संगठन किया था।

उपर्युक्त घटनाओं पर मनन करने से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि समुद्रगुप्त 'साम' और 'दंड' की नीति के प्रयोग में बड़ा ही दक्ष था। न वह अपनी नीति में बहुत तीक्ष्ण और न बहुत मृदु ही था—'न खरो न च भूयसा मृदुः'। देश-काल-पात्र को देख कर वह अपनी नीति का प्रयोग करता था। जहाँ तक हो सकता था वह पर-राष्ट्रों के साथ उदार-मनस्कता से व्यवहार करता था। विंसेंट स्मिथ का कथन है कि समुद्रगुप्त ने सिंहासनारूढ़ होते ही दूसरों के राज्यों को छीनने की नीयत से उन पर आक्रमण शुरू कर दिए थे। उस विद्वान का मत है कि पर-राष्ट्रों पर अकारण आक्रमण करना पूर्व देशों के लोग निंदनीय न समझते थे और राज्य-लिप्सा ही शक्तिशाली राजाओं का उद्देश्य रहता था। समुद्रगुप्त के विषय में विंसेंट स्मिथ की यह धारणा नितांत निराधार है। उस ने निरी राज्य-तृष्णा से वशीभूत हो कर अपनी दिग्विजय प्रारंभ की यह कहना अनुचित है। वह विजिगीषु अवश्य था और हिंदू नीतिशास्त्र के अनुसार दूसरे राष्ट्रों के मध्य अपनी ही सत्ता को सर्वोपरि और केंद्रस्थ बनाना चाहता था, परंतु दूसरों के राज्यों का अपहरण कर अपने साम्राज्य में मिला लेना उस का प्रयोजन न था। उस के प्रयाग के शिला-

लेख में उस की पर-राष्ट्र-नीति का स्पष्ट विवेचन किया गया है। 'दक्षिणा-पथ के सब राजाओं को उस ने क़ैद किया परंतु फिर अनुग्रह के साथ उन्हें मुक्त कर अपनी कीर्ति बढ़ाई'। 'आर्यावर्त के छोटे छोटे राजाओं से देश का उद्धार कर उस ने अपना प्रभाव बढ़ाया, 'आटविक' (जंगल के) राजाओं को उस ने अपना परिचारक बनाया'। 'प्रत्यंत (सीमा प्रांत के) नरेशों से कर ले कर उन से अपना प्रचंड शासन पूरा करवाया। उस ने कई उत्सन्न राजवंश और राज्य-च्युत नरेशों की पुनः प्रतिष्ठा की'।

शक, मुरंड सिंहल तथा अन्य द्वीपों के राजा भाँति भाँति से उस की सेवा में तत्पर रहने के लिये विवश हुए। कोई उस के दरबार में आकर 'आत्म निवेदन' करते थे, कोई लड़कियाँ भेंट करते थे, तो कोई अपने विषय (ज़िले) और भुक्ति (प्रांत) के शासन के लिये फरमान माँगा करते थे। इन उल्लेखों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि समुद्रगुप्त ने साम्राज्य-निर्माण विवेक-पुरःसर किया था। जहाँ जिस नीति का आश्रय लेना उचित था वहाँ उस ने उसी का प्रयोग किया। केवल राज्य-तृष्णा ही उस की पर-राष्ट्र-नीति का ध्येय न था।

वह धर्म-विजयी प्रसिद्ध होना चाहता था। इसलिये वह राजाओं को हरा कर छोड़ देता था।[1] केवल वे ही आस पास के राजा जो उस का वशंवद होना स्वीकार न करते थे, अपने राज्य को खो बैठे थे, अन्यथा अधिकांश राजा तो उस की विजय के पश्चात् अपने अपने राज्य का भोग करते रहे। सम्राट् समुद्रगुप्त की पर-राष्ट्र-नीति के नीचे लिखे उद्देश्य थे—

(१) 'ग्रहण-मोक्ष'=विजित राजाओं को फिर राज्याधिकार देना।

(२) 'प्रसभोद्धारण'=बलपूर्वक राज्यों को छीन कर साम्राज्य में शामिल करना।

---

[1] 'गृहीत प्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेंद्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्'॥ (रघुवंश, ४)

(३) 'परिचारिकीकरण'=सेवक और सहायक बनाना।

(४) 'करदानाज्ञाकरण प्रणामागमन'=कर देना, आज्ञा करना, प्रणाम के लिये आना।

(५) 'उत्सन्न राजवंश प्रतिष्ठापन'=नष्ट राजकुलों की स्थापना करना।

(६) 'आत्मनिवेदन-कन्यौपायनदान'=आत्मसमर्पण और भेट आदि स्वीकार करना।

(७) 'स्वविषय-भुक्ति-शासन-याचनाद्युपायसेवा'=विषय और भुक्ति (प्रांत) के शासन के लिये राज मुद्रांकित फरमान निकालना।

(८) 'प्रत्यर्पणा'=विजित राजाओं के छीने हुए धन को उन्हें वापिस देना।

समुद्रगुप्त की पर-राष्ट्र-नीति के जुदे जुदे पहलुओं पर विचार करते हुए स्पष्ट प्रकट होता है कि वह अपने 'प्रभाव' और 'प्रताप' को सारे देश में विस्तृत किया चाहता था, वह अपने बाहुबल के प्रसार से पृथ्वी को बाँधना चाहता था[1] किंतु वह पर-राज्य-तृष्णा के वशीभूत न था। भारत के राजनीतिक क्षेत्र में एक सुरक्षित साम्राज्य का संगठन करना ही उस का ध्येय था।

समुद्रगुप्त 'पराक्रमांक' की जीवन-चर्या तथा चरित्र

जगत् के इतिहास के वीर पुरुषों की नामावली में पराक्रम का पुतला सम्राट् समुद्रगुप्त अग्रगण्य है इस में किसी को कुछ संदेह नहीं। परंतु वह निरा रणरसिक योद्धा ही न था। वह असाधारण प्रतिभा वाला पुरुष था। उस के चरित्र में कठोरता और मृदुता का अद्भुत संमिश्रण था। वह जैसा शूरवीर और साहसी था वैसा ही सहृदय विद्वान् था। प्रयाग के स्तंभ पर उस की प्रशस्ति के रचयिता महाकवि हरिषेण ने लिखा है कि

---

[1] 'बाहुवीर्य्यप्रसरधरणिबंधस्य'।

(फ्लीट, गुप्त० शि० १)

'तीक्ष्ण बुद्धि में वह देवताओं के गुरु बृहस्पति को और संगीत-कला में नारद और तुंबुर को भी लज्जित करता था।' कवि की इस उक्ति पर कोई भी विद्वान विश्वास न करता, क्योंकि अपने आश्रय-दाताओं के गुण-परमाणु का पर्वत बना देना तो कवियों के बायें हाथ का खेल है। परंतु कवि के कथन में बहुत कुछ सत्य है इस का हमें स्वतंत्र प्रमाण समुद्रगुप्त के सिक्कों से मिलता है। इन सिक्कों पर एक ऊँचे मंच पर बैठी हुई राजमूर्ति अंकित है जिस के हाथ में एक वीणा है। इन पर एक ओर 'महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः' लिखा रहता है। इन वीणांकित सिक्कों से उस के संगीत-प्रेमी होने का हमें निश्चित प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार उस के जिन सिक्कों पर 'अश्वमेध-पराक्रमः' लिखा है उन से प्रयाग की प्रशस्ति में सविस्तर वर्णित समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा की सत्यता सिद्ध होती है। वह बड़ा दानशील था। उस ने 'आश्वमेधिक' सोने के सिक्के यज्ञ की दक्षिणा में देने के लिये ढलवाये थे। इस में संदेह नहीं कि इस प्रशस्ति के लेखक महाकवि ने समुद्रगुप्त के राज्य-काल की घटनाओं और उस के चरित्र के गुणों का ठीक ठीक वर्णन किया है। स्थाली-पुलाक-न्याय से इस इतिहासकार कवि की परीक्षा कर विद्वानों ने उस के कथनों को प्रामाणिक माना है। समुद्रगुप्त बड़ा सहृदय और कविता-प्रेमी था। वह काव्य-रचना में ऐसा कुशल था कि विद्वान उसे 'कविराज' कहते थे।[१] उस की कविता पर विद्वज्जन रीझते थे। उस ने अपनी अनेक काव्य-कृतियों को विद्वानों के उपभोग के योग्य बनाया था। उस ने कवि-प्रतिभा के प्रकाश करने वाले

---

[१] 'यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषेषु, तेषु तेषु प्रबंधेषु, तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतंत्रः स कविराजः ते यदि जगत्यपि कतिपये।—काव्यमीमांसा, पृष्ठ १९।

राजशेखर ने 'कविराज' को 'महाकवि' से उत्कृष्ट बतलाया है। कई भाषाओं में, भिन्न भिन्न प्रकार के प्रबंधों में और विविध-रसमयी रचना करने वाला कवि 'कविराज' कहलाता है। जगत् में विरले ही 'कविराज' होते हैं।

काव्य रचे थे।[१] 'काव्य और लक्ष्मी के विरोध को उस ने मिटा दिया'। 'विद्वानों के लोक में उस की प्रस्फुट कविता ने कीर्ति-राज्य स्थापित किया'। कवि हरिषेण रचित प्रशस्ति में सहृदय सम्राट् समुद्रगुप्त की कवित्व-शक्ति और काव्य-रसिकता की जो मुक्तकंठ से प्रशंसा की गई है उस की यथार्थता उस के सिक्कों पर उत्कीर्ण संस्कृत के श्लोकबद्ध लेखों से भी प्रकट होती है।

समुद्रगुप्त के चलाये हुए सिक्कों पर अंकित संस्कृत के ललित छंदों से उस का उत्कट काव्य-प्रेम सूचित होता है। सिक्कों पर श्लोक लिखने की परिपाटी सम्राट् समुद्रगुप्त ने पहले पहल आविष्कृत की, जिस का उस के वंशजों ने अनुकरण किया। प्राचीन मुद्रा-विज्ञान के विद्वानों का मत है कि इतने प्राचीन काल में संसार की किसी अन्य जाति के सिक्कों पर छंदोबद्ध लेख नहीं मिलते।[२] यदि वह सम्राट् स्वयं काव्य-रसिक न होता तो सिक्कों पर कविता अंकित कराने का विचार उसे कदापि न स्फुरित होता। विद्वानों के सत्संग का उसे व्यसन था। उन के सहचर्य में वह सुख मानता था। शास्त्रों के तत्वार्थ के समर्थन और परिशीलन में उस मेधावी का मन लगता था। वह वेद-मार्ग का पक्षपाती था और धर्म की मर्यादा का मानने वाला था।[३] वह स्वयं विद्वान और विद्वानों का आदर करने वाला था।[४] प्रयाग की प्रशस्ति के प्रणेता महाकवि हरिषेण उस सम्राट् का कृपा-पात्र था, उसे राष्ट्र के शासन में बहुत उच्च अधिकार प्राप्त थे। उस ने इस प्रशस्ति में 'सांधि विग्रहिक' (पर राष्ट्र सचिव), 'कुमारामात्य' (कुमार का मंत्री) तथा 'महादंडनायक' (प्रधान न्यायाधीश) इन उपाधियों सहित अपने नाम का उल्लेख किया है।

---

[१] 'कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यम्।'

[२] प्राचीन मुद्रा—प्रस्तावना

[३] 'धर्मप्राचीरबंधः'—'सूक्तमार्गः'—फ्लीट, गु० शि० १।

[४] 'यस्य प्रज्ञानुषंगोचितसुखमनसः'—(वही)।

एरण (सागर ज़िला) के शिलालेख से पाया जाता है कि समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र और पौत्र थे।[1] इस में उस के बहुत से सुवर्ण-दान का भी उल्लेख है और उसे 'अप्रतिवार्य्य वीर्य्य' कहा गया है। उस ने अनेक युद्धों में बड़े बड़े पराक्रम दिखलाए थे।[2] इसलिये वह 'पराक्रमांक' कहलाता था। जैसा वह पराक्रमी था वैसा वह कोमल और दयावान था। वह कृपण, दीन, अनाथ और आतुर लोगों के उद्धार, शिक्षा और दीक्षा में संलग्न रहता था। काव्य और संगीत का प्रगाढ़ प्रेम उस की सहृदयता सूचित करता है। शस्त्र और शास्त्र के धारण करने में वह परम पटु था। अपने अमोघ शस्त्र से राष्ट्र की रक्षा कर वह शास्त्र-चिन्ता में व्यस्त रहता था। किसी भी दृष्टि-कोण से उस के चरित्र को देखिये, उस में अनेक असाधारण गुण मालूम होते हैं जिन का उस के सिक्के और शिलालेखों से पता चलता है।[3] महाकवि भर्तृहरि की निम्नलिखित उक्ति समुद्रगुप्त के चरित्र में बहुत कुछ चरितार्थ होती है:—

---

[1] 'गृहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्रसंक्रामणी कुलवधुः व्रतिनी निविष्टा।'

(फ़्लीट, गु० शि० २)

[2] 'यस्योर्जितं समरकर्म पराक्रमेद्धम्'—(वही)।

[3] समुद्रगुप्त के सिक्कों पर खुदे हुए और शिलालेखों में लिखे हुए उस के नाम के साथ लगे हुए समान विशेषणों की तुलनात्मक सूची नीचे उद्धृत की जाती है—

मुद्रा-लेख	शिलालेख
(१) 'समरशतविततविजयी'	(१) 'समरशतावतारणदक्षस्य'—फ़्लीट, गु० शि० १
(२) 'सर्वराजोच्छेत्ता'	(२) 'सर्वराजोच्छेत्तुः'—(वही) शि० ४
(३) 'अप्रतिरथः'	(३) 'अप्रतिरथस्य'—(वही) शि० १
(४) 'कृतांतपरशुः'	(४) 'कृतांतपरशोः'—(वही) शि० ४
(५) 'अप्रतिवार्य वीर्य्यः'	(५) 'अप्रतिवार्य वीर्य्यः'–(वही) शि० २

'विपदि धैर्य्यमथाभ्युदये क्षमा।
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः॥
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ।
प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥'

卐 卐 卐

(६) 'पराक्रमः'
व्याघ्र पराक्रमः
(७) 'अश्वमेध-पराक्रमः

(६) 'स्वभुजवलपरा-
क्रमैक वंधोः
पराक्रमांकस्य } —(वही) शि० १
(७) चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः।

प्रथम परिशिष्ट

समुद्रगुप्त 'पराक्रमांक' की दिग्विजय का सविस्तर विवरण

(१) आर्यावर्त की विजय

समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में सब से पहले अच्युत, नागसेन और कोट कुल के राजाओं के परास्त किए जाने का उल्लेख है। अच्युत के सिक्के रामनगर (ज़िला बरेली=अहिच्छत्र) से मिले हैं। कोट कुल के राजाओं के सिक्के दिल्ली और पंजाब के पूर्व प्रदेश में मिले हैं।[1] उक्त लेख में जितने राजाओं के नाम मिलते हैं उन सब का ठीक ठीक पता लगाना कठिन है। आर्यावर्त के नौ राजाओं का उस में उल्लेख है जिन में सिर्फ़ दो तीन राजाओं का ही पता चलता है। उन में 'गणपतिनाग' कदाचित् पद्मावती (नरवर, ग्वालियर) का नागवंशी राजा हो—जिस का सिक्कों से भी पता चलता है।[2] रैप्सन का अनुमान है कि उक्त सूची का नागसेन भी पद्मावती के नागकुल ही का था। हर्षचरित में लिखा है कि 'मैना पक्षी द्वारा कुछ गुप्त बातों के प्रकट कर दिए जाने के कारण, पद्मावती में, नागकुल का नागसेन मारा गया था।[3] रुद्रदेव संभवतः वाकाटकवंशी राजा रुद्रसेन प्रथम हो। चंद्रवर्मा शायद पुष्करण (मारवाड़) का राजा हो, जिस का

---

[1] Indian Museum Catalogue, vol. i, 185, 258, 264.

[2] Indian Museum Catalogue, vol. i, 164 178, 179.

[3] 'नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमंत्रस्य आसीत् नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्।' हर्षचरित।

उल्लेख सुसुनिया (जिला, बाँकुड़ा, पूर्व बंगाल) के शिलालेख में मिलता है।[1] बलवर्मा आसाम के हर्ष के समकालीन राजा भास्करवर्मा का पूर्वज हो।[2] कदाचित् बुलंदशहर से मिली हुई मुहर का 'मतिल' और इस लेख का मतिल एक ही है।[3] हिमालय और विंध्याचल के बीच का देश आर्यावर्त कहलाता था—'आर्यावर्तः पुण्यभूमिः मध्ये विंध्यहिमालययोः' सारा दक्षिण देश 'दक्षिणापथ' कहलाता था। नर्मदा से उत्तर का सारा भारत 'उत्तरापथ' और उक्त नदी से दक्षिण का 'दक्षिणापथ' प्राचीन काल में कहलाता था।

(२) दक्षिणापथ की विजय-यात्रा

प्रयाग की प्रशस्ति में *दक्षिणापथ* के राजाओं की निम्नलिखित नामावली मिलती है :—

(१)	कोसल के	राजा	महेंद्र
(२)	महाकांतार के	"	व्याघ्रराज
(३)	कौराल के	"	मंत्रराज
(४)	पिष्टपुर के	"	महेंद्र
(५)	गिरिकोट्टुर के	"	स्वामिदत्त
(६)	एरंडपल्ल के	"	दमन
(७)	कांची के	"	विष्णुगोप
(८)	अवमुक्त के	"	नीलराज
(९)	वेङ्गी के	"	हस्तिवर्मा

नवनागास्तु भोक्ष्यंति पुरीं चम्पावतीं नृपाः। मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यंति सप्त वै। पार्जिटर—कलियुग वंश० पृ० ४३।

[1] एपि० इं० भाग १३, पृष्ठ १३३।

[2] एपि० इं० भाग १२, पृष्ठ ६९।

[3] आई० ए० भाग १८, पृष्ठ ९८९।

(१०) पालक्क के राजा उग्रसेन
(११) देवराष्ट्र के " कुबेर
(१२) कुस्थलपुर के " धनंजय इत्यादि

(१) *कोसल* से यहाँ दक्षिण कोसल का तात्पर्य है, जिस में मध्यप्रदेश के विलासपुर और रायपुर के बीच के प्रदेश का समावेश होता है।
(२) *महाकांतार* में गोंडवाना के पूर्व वनमय प्रदेश शामिल हैं।
(३) *कौराल* राज्य उड़ीसा के समुद्र तट पर के कौराल के आस पास के प्रदेश का सूचक होना चाहिये (न कि केरल का)। डाक्टर फ्लीट ने कौराल को 'केरल' मान कर समुद्रगुप्त द्वारा पश्चिमी तट मलाबार पर्यन्त आक्रमण किए जाने की कल्पना की थी, किंतु फ्रेंच विद्वान जूवो-डूवरय़ूल (Jouveau-Dubreuil) ने 'दक्षिण का प्राचीन इतिहास' नाम की अपनी पुस्तक में सिद्ध किया है कि समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा दक्षिण के पूर्व तट तक ही परिमित थी। कृष्णा नदी से न वह आगे बढ़ा और न उस ने केरल (मलाबार) पर आक्रमण किया।'[1]
(४) मद्रास प्रांत के गोदावरी जिले में पिट्ठापुर के आस पास का प्रदेश *'पिष्टपुर'* कहलाता था।
(५) *गिरि-कोट्टूर* का राज्य मद्रास प्रांत के गंजाम जिले में था, जिस की राजधानी कोट्टूर वर्तमान कोटूर होना चाहिये।
(६) *एरंडपल्ल*—यह राज्य गंजाम जिले के चिकाकोल के निकट एरंडपल्लि के आस पास होना चाहिये। कलिंग के देवेंद्रवर्मा के ताम्रपत्रों में इस का उल्लेख है। (*Ep. Ind. XIII, 212*)
(७) कांची वा कांजीवरम् समुद्रगुप्त के समय पल्लववंशी राजा विष्णु

---

[1] Jouveau-Dubreuil: Ancient History of the Deccan, pp. 58-61.

गोप के अधीन था। उस के साथ समुद्रगुप्त की लड़ाई कृष्णा नदी के निकट होनी चाहिये।

(८) *अवमुक्त* और *कुशस्थलपुर* के राज्यों का ठीक पता नहीं चला।

(९) पूर्वी समुद्र तट का गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का प्रदेश *वेंगि* राज्य कहलाता था।

(१०) *पालक्क* राज्य कृष्णा नदी के दक्षिण में था, जिस का उल्लेख पल्लव-वंशियों के ताम्रपत्रों में मिलता है।

(११) *देवराष्ट्र* राज्य विज़ागापट्टम् ज़िले के एक विभाग का नाम था। विज़ागापट्टम् से मिले हुए ताम्रपत्रों से इस प्रदेश का दक्षिण के पूर्वी तट के समीप होना सिद्ध होता है।

फ्रेंच विद्वान् जूवो डूवरयूल की धारणा है कि समुद्रगुप्त के आक्रमण को पल्लववंशी विष्णुगोप ने वेंगी, देवराष्ट्र आदि के राजाओं से मिल कर रोका हो और कृष्णा नदी पर ही उस का सामना किया हो। कुछ भी हो, किंतु दक्षिण के इन राजाओं को समुद्रगुप्त का लोहा मानना पड़ा।[१]

(३) सीमांत राज्यों की विजय

समुद्रगुप्त ने सीमांत प्रदेश के राजाओं को अपने अधीन कर उन्हें कर देने के लिये वाध्य किया। वे राज्य निम्न लिखित थे:—

(१) *समतट*=गंगा और ब्रह्मपुत्र की धाराओं के वीच का समुद्र से मिला हुआ प्रदेश।

(२) *डवाक*=वोगरा, दीनाजपुर, राजशाही ज़िले।

(३) *कामरूप*=आसाम।

(४) *कर्तृपुर*=कमायूँ, अल्मोड़ा, गढ़वाल और कांगड़ा।

(५) *नेपाल*

---

[१] गौरीशंकर ओझा—राजपूताने का इतिहास, पृ० ११६, ११७।

ये गुप्त साम्राज्य के पूर्व और उत्तर के सीमांत राज्य थे। इन के अतिरिक्त पश्चिम की सीमा पर नीचे लिखे ९ गण-राज्य थे—

(१) *मालव*—प्राचीन काल में मालव जाति भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम प्रांत में रहती थी। सिकंदर का पंजाब पर आक्रमण होने के समय मालव जाति से युद्ध हुआ था। कालक्रम से यह जाति अवंती देश में निवास करने लगी। इसीलिये लोग प्राचीन अवंती वा उज्जयिनी को परवर्ती काल के इतिहास में मालव देश कहने लगे थे। इस मालव जाति के बहुत से पुराने सिक्के, विक्रम संवत् पूर्व की तीसरी शताब्दी के आस पास की लिपि के, जयपुर राज्य के प्राचीन नगर के खंडहर से मिले हैं जिन पर 'मालवानां जय'—'जय मालवगणस्य' लिखा रहता है। ऐसा अनुमान होता है कि मालव जाति का अधिकार जयपुर राज्य के दक्षिण, कोटा और झालावाड़ के प्रदेशों पर, जो मालवा से मिले हुए हैं रहा हो। गुप्त-कालीन भारत में भी मालवगण मंदसोर के आस पास बसे हुए मिलते हैं।[1]

(२) *अर्जुनायन*—अर्जुनायन जाति के थोड़े से सिक्के मथुरा से मिले हैं जिन पर विक्रम संवत् के प्रारंभ काल की लिपि में "अर्जुनायनानां जयः" लिखा है। इस जाति का मथुरा के पश्चिम के प्रदेश भरतपुर और अलवर राज्यों पर कुछ समय तक अधिकार होना अनुमान किया जा सकता है।[2]

(३) *यौधेय*—बहुत प्राचीन काल में यौधेय जाति भी भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रांत में रहती थी। ई० स० १५० के गिरनार के शिलालेख से पता चलता है कि महाक्षत्रप रुद्रदामा ने 'क्षत्रियों में वीर की उपाधि धारण करने वाले यौधेयों को' परास्त किया था। बृहत्सं-

---

[1] स्मिथ, कें० को० ई० म्यू० १७०-१७३-प्राचीन मुद्रा १२३-२६।

[2] वही, जि० १, पृ० १६१, १६६।

हिता में गांधार जाति के साथ यौधेय लोगों का भी उल्लेख है। भरत-पुर राज्य के विजयगढ़ नामक एक स्थान के शिलालेख में यौधेय लोगों के अधिपति "महाराज महासेनापति" उपाधिधारी एक व्यक्ति का उल्लेख है। पंजाब की बहावलपुर रियासत में रहने वाली योहिया नामक जाति यौधेय लोगों की वंशधर मानी जाती है। यौधेय जाति के सिक्के सतलज और यमुना के बीच के प्रदेश में अधिक संख्या में मिलते हैं। इन के कुछ सिक्के पर 'ब्रह्मण्य देवस्य भागवतः' और 'यौधेय गणस्य जयः' आदि लेख हैं।

(४) *मद्रक* जाति की राजधानी पंजाब में 'शाकल' स्यालकोट थी।

(५) *आभीर* जाति बुंदेलखंड और मध्यप्रदेश के कई भागों में बसी हुई थी।

(६-९) *प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खर्परिक*—इन जातियों के निवास-स्थान भी संभवतः मालवा और मध्यप्रदेश में हों। शिलालेखों से पता चलता है कि सनकानीक जाति के लोग साँची के आस पास रहते थे।

(४) विदेशी लोगों के राज्य

समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में चौथी श्रेणी में नीचे लिखे विजातीय राज्यों का उल्लेख है—

(१) *देवपुत्र, शाही और शहानुशाही*—ये पहले कुशानवंशी राजाओं की उपाधियाँ थीं। महाराज कनिष्क के ये कदाचित् वंशधर हों, परंतु तीसरी सदी में कुशान साम्राज्य के छोटे छोटे अनेक टुकड़े हो गए थे इन राजाओं का राज्य पश्चिम पंजाब से ओक्सस नदी पर्यंत था।

(२) *शक-मुरंड*—ये कदाचित् उज्जैन के महाक्षत्रप थे। स्टेन कोनो (Sten Konow) का कथन है कि मुरंड शब्द का अर्थ शक भाषा में 'स्वामी' होता है और उज्जैन के क्षत्रपों के नाम के साथ 'स्वामी' प्रायः प्रयुक्त होता था।

(३) *सिंहल* से लंका का तात्पर्य है। चीन के इतिहासकार से पता चलता है कि सिंहल का राजा मेघवर्ण समुद्रगुप्त का समकालीन था। डाक्टर फ़्लीट मेघवर्ण का समय ई० स० ३५१ से ३७९ पर्यंत मानते हैं, जिस से उस का समुद्रगुप्त के समकालीन होना सिद्ध होता है।

प्रयाग की प्रशस्ति में वाकाटक वंश का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इस समय इस वंश का आधिपत्य बुंदेलखंड से कुंतल (माइसोर) प्रदेश तक फैला हुआ था। विंध्यशक्ति के समय इस वाकाटक वंश का अभ्युदय हुआ था। उस की वंशपरंपरा में प्रवरसेन, प्रथम रुद्रसेन, प्रथम पृथिवीषेण और द्वितीय रुद्रसेन राजा हुए थे। प्रथम पृथिवीषेण समुद्रगुप्त के समकालीन था। उस का पुत्र द्वितीय रुद्रसेन चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय के समकालीन था। अजंता के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि पृथिवीषेण ने कुंतल के राजा को अपने अधीन किया था। बुंदेलखंड में नचने की तलाई से मिले हुए शिलालेख से प्रकट होता है कि वाकाटक राजा प्रथम पृथिवीषेण का सामंत व्याघ्रदेव वहाँ शासन करता था जिसे संभवतः समुद्रगुप्त ने महाकान्तार के युद्ध में हराया था।[1]

मध्यभारत में गुप्तवंश के आधिपत्य प्रसृत होने के पूर्व वाकाटक राजा पृथिवीषेण का प्रभुत्व दक्षिण वंश के भारत के मध्य और पश्चिमी प्रांतों पर स्थापित था। फ्रेंच विद्वान् डूबरयोल ने सिद्ध किया है कि समुद्रगुप्त ने महाराष्ट्र और खानदेश तक आक्रमण नहीं किया था, क्योंकि "देवराष्ट्र और एरंडपल्ल" महाराष्ट्र और खानदेश के सूचक नहीं हैं। पृथिवीषेण का सामंत व्याघ्रदेव और समुद्रगुप्त द्वारा पराजित महाकांतार का राजा व्याघ्रराज एक ही था। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि सम्राट् समुद्रगुप्त का आधिपत्य मध्यभारत पर स्थापित हो गया था और वाकाटक

---

[1] हेमचंद्र राय चौधरी—प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ० २७७, २७८।

वंश के हाथ में दक्षिण के सिर्फ पश्चिमी विभाग बच रहे थे। समुद्रगुप्त के एरण (सागर ज़िला) के शिलालेख से स्पष्ट प्रकट होता है कि मध्यभारत में समुद्रगुप्त ने वाकाटक वंश का प्रभाव नष्ट कर दिया था।[१]

---

[१] "वाकाटकानां महाराजश्रीपृथिवीषेण-पादानुध्यातो व्याघ्रदेवो मातापित्रोः पुण्यार्थं कृतमिति"—फ्लीट, गुप्त-शिलालेख-सं० ५४, पृ० २३४।

तृतीय अध्याय

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन-काल और उस की मुख्य मुख्य घटनाएँ

सम्राट् समुद्रगुप्त के राज्य-काल के शिलालेखों में तिथि-संवत् का उल्लेख न होने से उस के शासन-काल के घटना-क्रम का ठीक ठीक पता नहीं चलता। यदि प्रथम चंद्रगुप्त ने २५ वर्ष तक राज्य किया जैसा कि जोन एलन का अनुमान है, तो समुद्रगुप्त का राज्यारोहण काल ई० स० ३३५ के लगभग होना चाहिये। फ्रेंच विद्वान् सिल्वेन लेवी ने चीनी ग्रंथों के आधार पर समुद्रगुप्त को लंका के राजा मेघवर्ण का समकालीन होना सिद्ध किया है। डाक्टर फ़्लीट मेघवर्ण का समय ई० स० ३५१ से ३७९ पर्यंत मानते हैं और समुद्रगुप्त का राज्यारोहण काल ई० स० ३३५ के निकट ही अनुमान करते हैं। प्रयाग के स्तंभ-लेख से यही अनुमान होता है कि समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा के समाप्त हो जाने पर लंका से राजदूत उस के दरबार में आये थे। इस से स्पष्ट है कि लंका के राजदूतों का भारत में आना ई० स० ३३० के आस पास संभव नहीं था। अतएव, समुद्रगुप्त का राज्य-काल ई० स० ३३५ के लगभग आरंभ हुआ होगा। उस का राज्य दीर्घकालीन था जो कदाचित् ई० स० ३८० के निकट समाप्त हुआ उस की महाराणी का नाम दत्तदेवी था जो उस के उत्तराधिकारी द्वितीय चंद्रगुप्त की माता थी।

समुद्रगुप्त के अनेक पुत्र और पौत्र थे। यद्यपि द्वितीय चंद्रगुप्त उन

का ज्येष्ठ पुत्र न था, तथापि योग्यतम होने के कारण वह अपने पिता द्वारा राज्य का उत्तराधिकारी चुना गया था। चंद्रगुप्त के राज्य-काल के चार शिलालेखों पर संवत् लिखे हैं जिन से उस के समय का पूरा पता लगता है। इन्हीं के आधार पर इस राजा का अभिषेक ई० स० ३८० के लगभग और मृत्यु ई० स० ४१३ के आस पास मानी जा सकती है। उन में गुप्त संवत् ६१ (ई० स० ३८०-८१) के मथुरा के स्तंभ-लेख, गुप्त संवत् ८२ का उदयगिरि (ग्वालियर राज्य के भेलसा से दो मील) की गुफा के, गु० सं० ८८ का गढ़वा (प्रयाग के समीप) के और गु० सं० ९३ के सांची (भोपाल राज्य में) के शिलालेखों से चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का राज्य-काल भली भाँति निर्धारित हो जाता है।

'विक्रमादित्य' विरुद की उत्पत्ति

सम्राट् समुद्रगुप्त ने कई बड़े बड़े विरुद धारण किए थे जिन में 'अप्रतिरथ', 'कृतांतपरशु', 'सर्वराजोच्छेत्ता', 'व्याघ्रपराक्रम', 'अश्वमेध-पराक्रम', 'पराक्रमांक' आदि मुख्य थे। उस के पुत्र और उत्तराधिकारी द्वितीय चंद्रगुप्त के सिक्कों पर उस के भी ऊँचे ऊँचे विरुद पाये जाते हैं जिन में 'विक्रमांक','विक्रमादित्य','श्रीविक्रम','अजितविक्रम','सिंहविक्रम' आदि विशेष उल्लेख योग्य हैं। इन पूर्वोक्त विरुदों से सूचित होता है कि दोनों पिता-पुत्र बड़े ही वीर और विजयी योद्धा थे। समुद्रगुप्त ने बहुत से युद्धों में राजाओं को परास्त किया था। इसलिये वह 'सर्वराजोच्छेत्ता' कहलाता था। परंतु ऐसा मालूम होता है कि द्वितीय चंद्रगुप्त को इतने अधिक युद्ध न करने पड़े थे। पिता 'व्याघ्र-पराक्रम' और पुत्र 'सिंहविक्रम' था। एक बंगाल के चीते के शिकार का शौकीन था और दूसरा काठियावाड़ के शेरों का शिकार करना पसंद करता था। समुद्रगुप्त की पहुँच काठियावाड़ के जंगलों तक नहीं थी जिस पर पूर्ण अधिकार द्वितीय चंद्रगुप्त ने ही स्थापित किया था। उक्त विरुदावली में द्वितीय चंद्रगुप्त का सब से विशिष्ट विरुद 'विक्रमादित्य' था। यह विरुद भारतवर्ष में प्राचीन

काल से प्रचलित था। एक समय उज्जैन के किसी राजा ने शकों को नष्ट कर के 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया था और 'विक्रम-संवत्' ई० स० ५७ में चलाया था।[1] यह कथा हिंदू साहित्य में परंपरा से चली

---

[1] विक्रम संवत् (ई० स० पूर्व ५७) के प्रवर्तक उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के विषय में पहले विद्वानों का मत था कि वह ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। किंतु आज कल उस की ऐतिहासिकता स्वीकार की जाने लगी है।

'कालिकाचार्य कथा' नामक जैन ग्रंथ से पता चलता है कि मध्य भारत में शकों ने विक्रमाब्द के पहले अपना राज्य स्थापित किया था जिन्हें विक्रमादित्य उपाधिवाले एक हिंदू राजा ने परास्त किया। उस कथा में कहा गया है कि (ई० स० पूर्व ५७ से प्रारंभ होने वाले) विक्रम संवत् के प्रवर्तक उज्जैन के राजा विक्रमादित्य ने जैन धर्म के संरक्षक शकों को मालवा में परास्त किया। उक्त जैन कथा में यह भी लिखा है कि विक्रम संवत् १३५ वर्ष तक प्रयोग में आता रहा, किंतु इस अवधि के पश्चात् दूसरे किसी शक-विजेता ने दूसरा संवत् चलाया। निःसंदेह, यह दूसरा-संवत् शकसंवत् ही था जो ई० स० ७८ में शुरू हुआ था और जिस का विक्रम संवत् से १३५ वर्षों का अंतर था। ई० स० ४०५ के मंदसोर के शिलालेख में विक्रम संवत् का मालव संवत् के नाम से उल्लेख मिलता है। उस का 'मालव गण' में प्रचलन होने से वह संवत् 'मालव गणाऽम्नात' कहलाता था। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि ई० स० पूर्व ५७ में इस संवत् का कोई प्रचारक राजा था जिस ने, जैन और हिंदू जनश्रुतियों के अनुसार, शकों को परास्त किया था। जिन शकों का विक्रमादित्य से मालवा में युद्ध हुआ था उन के राजाओं ने 'शाही' और 'शहानुशाही' अर्थात् राजाधिराज का विरुद धारण कर रखा था इस बात का भी उस कथा में उल्लेख है जिस का समर्थन शक राजाओं के सिक्कों पर उत्कीर्ण उपाधियों से पूरी तरह होता है। इस में कुछ संदेह नहीं कि उक्त कथानक का आधार ऐतिहासिक है। यह अत्यंत संभव है कि ईसा के जन्म से पूर्व पहली शताब्दी में पश्चिम भारत

आती है। गुप्तवंशी द्वितीय चंद्रगुप्त ने भी इस 'शकारि विक्रमादित्य' का अनुकरण कर, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, राजपूताना आदि प्रदेशों पर राज्य करने वाले शक जाति के क्षत्रपों का राज्य छीन कर उन के वंश की समाप्ति कर दी थी। अतएव, उस 'शकारि' गुप्त राजा ने भी उज्जैन पर अधिकार कर 'विक्रमादित्य' का प्रतापसूचक विरुद धारण करना उचित समझा।

'सोमदेव रचित कथासरित्सागर' में (७-४-३) लिखा है—'विक्रमादित्य इत्यासोद्राजा पाटलिपुत्रकः'—विक्रमादित्य नामक पाटलिपुत्र का राजा था। संस्कृत साहित्य में उसे उज्जयनी का भी राजा बतलाते हैं। 'विक्रमादित्य'—उपाधि धारण करने के लिये शकों का नाश करना एक आवश्यक कार्य था, क्योंकि इस विशिष्ट विरुद को मालवा के राजा ने शकों को निर्मूल करने पर धारण किया था। द्वितीय चंद्रगुप्त के पौत्र स्कंद गुप्त ने भी यही ख़िताब धारण किया था, क्योंकि उस ने भी विदेशीय हूणों के हमलों से देश की रक्षा की थी। शक और हूण जाति के शत्रुओं

की ओर बढ़ती हुई शकों की प्रचंड बाढ़ को रोकने वाला हिंदू आख्यानों में प्रसिद्ध वीर विक्रमादित्य, ईसा के पूर्व पहली शताब्दी में हुआ था, जिस ने अपने देश की विदेशियों के आक्रमण से रक्षा की।*

हमारे प्राचीन लेखों में भी इस प्रथम शकारि विक्रमादित्य का अनुसंधान मिलता है। 'गाथा सप्तशती' नामक एक प्राचीन प्राकृत गाथाओं का संग्रह आंध्रवंशी हाल राजा के नाम से उपलब्ध है। गोदावरी के तट पर पैठन (प्रतिष्ठान) में उस की राजधानी थी। डाक्टर रामकृष्ण भांडारकर ने हाल का समय ई० स० की पहली शताब्दी माना है।

*"*We are perhaps justified in concluding that Vikramaditya legend is to some extent historical character.*"—*Cambridge History of Ancient India*, p. 167, 168.

को पराजित कर द्वितीय चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त ने 'विक्रमादित्य' का प्राचीन, प्रताप-सूचक विरुद ग्रहण किए थे। गुप्त वंशियों के सिक्कों पर उत्कीर्ण

श्रीयुत सी० वी० वैद्य और महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ई० स० पूर्व ५७ में विक्रमादित्य का राजा होना मानते हैं। स्टेन कोनो (Sten Konow) ने सिद्ध किया है कि विक्रम संवत् के पूर्व शकों का साम्राज्य सिंधु नद के प्रदेश पर स्थापित था जिन की उपाधियाँ उक्त जैन कथा और मुद्रा-लेखों के अनुसार 'शहानुशाही' मिलती हैं। टोल्मी (Ptolemy) ने लिखा है कि शक-राज्य काठियावाड़ तक फैला हुआ था। इन्हीं शकों ने उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल को जो विक्रमादित्य का पिता था, पराजित किया। किन्तु उज्जैन पर शकों का अधिकार सिर्फ़ चार वर्ष तक रहा जहाँ विक्रमादित्य ने उन्हें नष्ट भ्रष्ट कर दिया। तत्पश्चात् उस ने ई० स० पूर्व ५७ में विक्रम संवत् स्थापित किया। इसके १३५ वर्ष उपरान्त शकों का उज्जैन पर फिर अधिकार हुआ जब से शक संवत् का प्रचार हुआ। जैन-कथा की उक्त बातों की पुष्टि पुराणों से भी होती है जिन में लिखा है कि सात गर्दभिल्ल राजा होंगे और उन के उपरान्त १८ शक-राजा ३८० वर्ष राज्य करेंगे—

"सप्त गर्दभिला भूयो भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।
शतानि त्रीणि अशीतिञ्च शका ह्यष्टादशैव तु॥"

—मत्स्य पुराण,

पार्जिटर, कलियुग-राजवंश, पृ० ४६

जैन-साहित्य में महावीर के निर्वाण और विक्रमाब्द के आरंभ तक की राज-परंपरा के काल का उल्लेख मिलता है। अवन्ती (उज्जैन) का राजा पालक (ई० पूर्व ५२७ में) ठीक महावीर के निर्वाण के दिन गद्दी पर बैठा था। उस ने ६० वर्ष राज्य किया; १५५ वर्ष नंद वंश का राज्य रहा; १०८ वर्ष मौर्य वंश का, ३० वर्ष पुष्यमित्र का, ६० वर्ष बलमित्र और भानुमित्र का, नहपाहन ४० वर्ष, गर्दभिल्ल का राज्य-काल १३ वर्ष का और शक का चार वर्ष।

लेखों और विरुदों से उन के व्यक्तिगत गुण, कर्म, स्वभाव तथा कार-नामों के स्पष्ट संकेत हमें मिलते हैं जिन का हम आगे चल कर विवेचन करेंगे।

चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की दिग्विजय-यात्रा

[मालवा, गुजरात और काठियावाड़ की विजय]

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की शक-विजय के प्रमाण उस के समय के शिलालेख और सिक्कों तथा पश्चात्कालीन दंतकथाओं से मिलते हैं। हरिषेण की विजय-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित जातियों की नामावली में शक-मुरंड आदि का भी उल्लेख है। ऐसा मालूम होता है कि शक-राजाओं ने समुद्रगुप्त के प्रभुत्व को मान लिया था, क्योंकि उस के बढ़ते हुए प्रताप के सामने मस्तक झुकाने और 'आत्म-निवेदन' करने के सिवाय वे कदाचित् कुछ न कर सकते थे। समुद्रगुप्त ने उन के राज्य

पूर्वोक्त काल-गणना के अनुसार ई० पूर्व ५२७ (महावीर निर्वाणतिथि) से [६०+१५५+१०८+३०+६०+४०+१३+४=] ४७० घटाने से हमारा समय विक्रमाब्द के समीप (ई० पू० ५७) आ जाता है। शकों ने ई० पूर्व ६१ वा ६० में मालवा पर आक्रमण कर गर्दभिल्ल को परास्त किया होगा, किंतु इस से चार ही वर्ष बाद विक्रमादित्य ने शकों से मालवा को छीन लिया। पुरातत्व-वेत्ता स्टेन कोनो का कथन है कि इस जैन-कथा पर अविश्वास करने का लेश भर भी कारण मुझे नहीं प्रतीत होता। बहुत से विद्वान भारतीय क्रमा-गत कथाओं को असत्य मान बैठते हैं और विदेशी लेखकों की मनगढ़ंत बातों का तुरंत विश्वास कर लेते हैं। किंतु इन कथाओं की प्रत्येक बात भिन्न भिन्न ऐतिहासिक साधनों से प्रमाणित की जा सकती है।*

*स्टेन कोनो—खरोष्ठी शिलालेख, कोर्पस इं० इंडिकेरम्, जिल्द २, भाग १, पृष्ठ २५-२७।

को गुप्त-साम्राज्य में संमिलित नहीं किया था, क्योंकि पश्चिमी भारतवर्ष में शक-क्षत्रपों के सिक्के ई० स० ३८९ तक प्रचलित रहे। चंद्रगुप्त का सब से पहला स्तंभ-लेख गुप्त संवत् ६१ अर्थात ई० स० ३८०-८१ का मिलता है जिस से उस का राज्यारोहण-काल इस तिथि के निकट होना सिद्ध होता है। मगध के राज-सिंहासन पर बैठने के कुछ वर्षों के बाद ही द्वितीय चंद्रगुप्त ने अपने पिता का अनुकरण कर दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया होगा।

सम्राट् समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त और दक्षिणापथ के बहुत विस्तृत प्रदेशों पर अपनी विजय-यात्रा की थी जिस का हम पहले सविस्तर वर्णन कर चुके हैं। उस युद्ध-यात्रा में कुशन, शक, मुरंड आदि विदेशी राजाओं ने उस का लोहा मान कर उस की अधीनता स्वीकार की थी। उस ने उन के राज्य नहीं छीने और न उन की आभ्यंतरिक स्वतंत्रता में किसी तरह की बाधा डाली। परंतु द्वितीय चंद्रगुप्त ने अपने पिता की युद्ध-नीति को बदल दिया। दक्षिण के प्रसिद्ध वाकाटक राज्य को तो उस ने अपनी राजकुमारी प्रभावती गुप्ता का वाकाटक वंशी राजा रुद्रसेन द्वितीय से विवाह कर अपने राज-मंडल में—अपनी प्रभाव-परिधि में—शामिल कर लिया था। इस कारण वह दक्षिणापथ की ओर से तो बिलकुल ही निश्चिंत हो बैठा था। परंतु भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रांतों पर अब भी विदेशी जातियों का अधिकार था, जिन से उसे कुछ भय की आशंका अवश्य रहती होगी। अतएव, चंद्रगुप्त ने उन्हें जड़ मूल से नष्ट कर डालने का बीड़ा उठाया। उस के समय के छोटे छोटे शिलालेखों और सिक्कों से उस की युद्ध-यात्रा का यत्किंचित् वृत्तांत मिलता है। मालवा के उदयगिरि पर्वत की गुफाओं में एक लेख मिला है जिस में चंद्रगुप्त के युद्ध-सचिव वीरसेन ने कहा है कि राजा जिस समय समस्त पृथ्वी जीतने के लिये आया था, उस समय मैं भी उस के साथ इस देश में आया था।

"कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः।
भक्त्या भगवतः शंभोर्गुहामेतामकारयत्॥"

(उदयगिरि का गुहालेख)

वीरसेन ने वहाँ भगवान शंभु की पूजा के लिये एक गुफा बनवाई थी। 'उसे कुलक्रमागत सचिव पद प्राप्त था, वह चंद्रगुप्त के संधि-विग्रह-विभाग में नियुक्त था, वह पाटलिपुत्र का रहने वाला था, वह व्याकरण, साहित्य, न्याय-शास्त्र और लोकनीति का पंडित और साथ साथ कवि भी था', इत्यादि बातें उस ने अपने विषय में लिखी हैं। उस ने अपने स्वामी चंद्रगुप्त का इस शिलालेख में उल्लेख करते हुए ऐसे विशेषण उस के नाम के साथ जोड़ दिए हैं कि जिन के श्लेषालंकार से उस राजा की उपाधि 'विक्रमादित्य' ध्वनित होती है। 'अंतर्ज्योति आदित्य की आभा वाला और विक्रम के मोल से राजाओं को ख़रीदने वाला' इत्यादि विशेषणों से चंद्रगुप्त का विरुद 'विक्रमादित्य' स्पष्ट ध्वनित होता है अतएव, इस शिलालेख में पहले चंद्रगुप्त का नहीं किंतु दूसरे का ही उल्लेख है। इस में तिथि-संवत् न होने से यह शंका हो सकती थी कि यह शिलालेख प्रथम चंद्रगुप्त के समय का है। परंतु, उदयगिरि की गुफा का दूसरा शिलालेख जिस में 'परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त के सामंत' सनकानिक महाराज विष्णुदास के पुत्र के दान का उल्लेख है, गुप्त संवत् ८२ (ई० सं० ४०१) का है। इस से अनुमान होता है कि ई० सं० ४०१ के पूर्व ही चंद्रगुप्त का मालवा पर अधिकार हो चुका था, जहाँ वह अपने 'सांधि-विग्रहिक' सचिव वीरसेन को साथ लेकर अपनी युद्ध-यात्रा समाप्त कर कदाचित् लौटा था। उस का यह युद्ध पश्चिमी भारत के शक जातीय क्षत्रप राजा से हुआ था जिस में उस की विजय हुई। उस ने मालवा, गुजरात और सुराष्ट्र गुप्त-साम्राज्य में मिला लिए।

पश्चिमी भारत के शक राजवंश का संक्षिप्त इतिहास

पश्चिमी भारत के शक राजवंश के इतिहास के निर्माण करने में हमें कुछ शिलालेख और कई हज़ार सिक्कों से सहायता मिलती है। ईसा की पहली शताब्दी में शकों ने मालवा और सौराष्ट्र (काठियावाड) में एक नवीन राज्य स्थापित किया था। इस वंश के राजाओं की उपाधि 'क्षत्रप' और 'महाक्षत्रप' थी। ईरान में 'क्षत्रप' शब्द का सूबेदार के अर्थ में प्रयोग होता था। ये शक सूबेदार जब स्वाधीन हो गए तब 'महाक्षत्रप' की उपाधि धारण करने लगे। 'महाक्षत्रप' उपाधि वाले शक जाति के दो राजवंशों ने भिन्न भिन्न समय में मालवा और सौराष्ट्र में अधिकार प्राप्त किया था। प्रथम शक वंश के केवल दो राजाओं के सिक्के मिले हैं। पहले राजा भूमक के ताँबे के सिक्के पर खरोष्ठी और ब्राह्मी अक्षरों में "क्षहरातस क्षत्रपस भूमकस" लिखा है। क्षहरात उस के वंश का नाम होना चाहिये। भूमक का कोई शिलालेख वा तिथि-युक्त सिक्का नहीं मिला जिस से उस का काल निर्णय किया जा सके। क्षहरात वंश का दूसरा राजा नहपान था। नहपान की पुत्री दक्षमित्रा का विवाह शक जातीय उषवदात से हुआ था। उषवदात के लेख नासिक और कार्ले की गुफा में मिले हैं जिन से पता लगता है कि नहपान का राज्य नासिक और पूना से लगा कर, मालवा, गुजरात सुराष्ट्र और राजपूताने में पुष्कर से उत्तर तक था। उस के लेख से मालूम होता है कि वह नहपान की आज्ञा से मालवों से घिरे हुए उत्तमभाद्र क्षत्रियों को छुड़ाने के लिये राजपूताने में गया था और उन्हें भगा कर उस ने पुष्कर तीर्थ में स्नान कर तीन सहस्र गौ और एक गाँव दान किया था।[१] दानी उषवदात ने प्रभास-क्षेत्र (काठियावाड़)

---

[१] (१) ए० इ०, जिल्द ८, पृ० ७८। ओझा-राजपूताने का इतिहास, १ भाग पृ० १०२।

(२) वही; जिल्द ८, पृ० ६०।

में आठ ब्राह्मण कन्याओं का विवाह करवाया और कितने ही गाँव ब्राह्मण और बौद्धों को दिए। उस ने जगह जगह धर्मशाला, घाट और कूएँ बनवाए। इन लेखों में नहपान के राज्यांक वा किसी दूसरे संवत् के ४१ वें, ४२ वें और ४५ वें वर्ष का उल्लेख है। कुछ विद्वान इन वर्षों को शक संवत् के अंक मानते हैं और तदनुसार ईसा की दूसरी शताब्दी के प्रारंभ में नहपान का समय निश्चित करते हैं। नहपान की मृत्यु के उपरांत दक्षिण के आंध्रवंशी राजा गोतमीपुत्र शातकर्णी ने शकों के इस पहले क्षत्रप वंश का अधिकार नष्ट कर दिया और नहपान के चाँदी के सिक्कों पर अपना नाम लिखवाया। पश्चिमी भारत के शक और दक्षिण के शातकर्णियों का संघर्ष ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी में बराबर जारी रहा। शक संवत् के पहले शतक में शक जाति का मालवा और सुराष्ट्र पर फिर से अधिकार हो गया। इस दूसरे क्षत्रप वंश का संस्थापक चष्टन था। उस ने नहपान के पश्चात् नष्ट हुए क्षत्रपों के राज्य को फिर से स्थापित किया। उसी ने उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया। चष्टन के वंश के सिक्कों पर राजा के नाम और उपाधियों के साथ उस के पिता का नाम और उपाधियाँ तिथि-समेत अंकित मिलती हैं जिन के आधार पर इस क्षत्रप वंश का शृंखलाबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है। चष्टन का पौत्र महाक्षत्रप रुद्रदामा उस के वंश में सब से प्रतापी राजा हुआ। उस ने मालवा, सुराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान, सिंध और कोंकन आदि प्रदेशों पर अधिकार कर के बहुत बड़ा साम्राज्य स्थापित किया था। उस ने दक्षिणापथ के राजा शातकर्णी को दो बार परास्त किया था और यौधेय नाम के वीर क्षत्रियों को हराया था। सुराष्ट्र के गिरनार पर्वत पर शक संवत् ७२ (ई० सं० १५०) का खुदा हुआ एक बड़ा संस्कृत भाषा का शिलालेख मिला है,[1] जिस में रुद्रदामा के साम्राज्य का विवरण है और

---

[1] गिरनार का रुद्रदामा का शिलालेख—एपिग्राफ़िका इंडिका जिल्द ८।

अतिवृष्टि के कारण सुदर्शन नामक झील के टूटे हुए बाँध को उस के सूबेदार पह्लव वंशी सुविशाख द्वारा जीर्णोद्धार करवाने का उल्लेख है। उज्जैन के क्षत्रप वंश में २२ राजाओं की नामावली मिलती है और उन का राज्य-काल शकाब्द (ई० सं० ७८) के आरंभ से ई० सं० के चतुर्थ शतक के प्रायः अंत तक रहा। प्रयाग के समुद्रगुप्त के लेख से पता चलता है कि शक लोगों ने भी उस की अधीनता स्वीकार की थी। स्वामी रुद्रसिंह शकजातीय क्षत्रपवंश का अंतिम राजा था, जिस के सब से पिछले चाँदी के सिक्कों पर महाक्षत्रप उपाधि और शकाब्द ३१० (?) (ई० स० ३८८-३९७) मिलता है। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय का मालवा में उदयगिरि का शिलालेख गुप्त संवत् ८२ (ई० स० ४०१-२) का है। उसी स्थल के दूसरे शिलालेख से पता चलता है चंद्रगुप्त दिग्विजय करता हुआ मालवा पहुँचा था। बहुत संभव है कि इसी यात्रा में चंद्रगुप्त ने गुजरात और काठियावाड़ पर भी अधिकार कर लिया हो। अतएव उस की विजय-यात्रा का समय ई० सं० ३८८ से ४०१ के मध्य होना चाहिये। गुजरात और सौराष्ट्र पर से शकों का अधिकार उठ गया। तदनंतर, चंद्रगुप्त द्वितीय ने क्षत्रपों के सिक्कों के ढंग पर बने हुए अपने नाम के चाँदी के सिक्के गुप्त संवत् ९० (ई० स० ४०९) के आस पास ढलवाये थे। इन सिक्कों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ई० सं० ४०९ के करीब भारत के पश्चिमी प्रदेश गुप्त-साम्राज्य में शामिल कर लिये गए थे।

मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र आदि प्रांतों में क्षत्रपों का राज्य तीन शतक से कुछ अधिक काल तक रहा। महाकवि बाण ने जनश्रुति के आधार पर हर्षचरित में लिखा है कि शत्रु के नगर में पर-स्त्री-कामुक शकपति को स्त्री के वेष में प्रच्छन्न चंद्रगुप्त ने मार डाला। संभव है कि इस किंवदंती में चंद्रगुप्त के सौराष्ट्र-विजय के समय की घटना का संकेत हो।[1]

---

[1] 'अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्चंद्रगुप्तः शकपतिमशातयत्'

—बाण, हर्षचरित।

इस महान् विजय से बड़े विभवशाली प्रदेश गुप्त-साम्राज्य में मिल गए। अति प्राचीन काल से भड़ोच, सोपारा आदि पश्चिमी समुद्र-तट के बंदरगाहों द्वारा भारत का पाश्चात्य देशों से निरंतर व्यापार होता चला आता था। वहाँ की शुल्क की आमदनी से इस समय गुप्त-नरेश धनकुबेर बन गए होंगे। जान पड़ता है कि द्वितीय चंद्रगुप्त ने शक-विजय के समाप्त हाने पर 'विक्रमादित्य' की उपाधि अपने नाम के साथ जोड़ी होगी और उज्जैन को अपने पश्चिमी प्रांतों को राजधानी बनाया होगा।[1] प्राचीन समय से उज्जैन विद्या और व्यापार का बड़ा केंद्र था। हिंदुओं की सात पवित्र पुरियों में इस की गणना थी।

"अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवंतिका।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैते मोक्षदायकाः॥"

कविकुलगुरु कालिदास ने अपने मेघदूत काव्य में इस का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह विभवसंपन्न पुरी स्वर्ग का चमकता हुआ टुकड़ा है—'दिवः कांतिमत्खण्डमेकम्'। विद्या और वैभव का प्रसिद्ध केंद्र होने से इस पवित्र पुरी पर हिंदू नरेशों का बड़ा अनुराग रहता था। भारत

---

[1] 'बंबई प्रांत के धारवाड़ ज़िले के गुत्तल के पिछले कुछ गुप्तवंशी राजा अपने शिलालेखों में 'उज्जयिनी पुरवराधीश्वर' की उपाधि धारण करते थे जिस का तात्पर्य यह होगा कि वे उज्जैन में राज करने वाले पूर्व के किसी प्रतापी राजवंश के वंशधर थे। वे अपना वंशक्रम उज्जैन के विक्रमादित्य से आरंभ हुआ मानते थे और चंद्रगुप्त के कुलरूपी सुधा-समुद्र के पूर्णचंद्र अपने आप को कहते थे। उन के शिलालेखों में जो विक्रमादित्य और चंद्रगुप्त के उल्लेख हैं वे एक ही व्यक्ति के वाचक हैं, क्योंकि उसी चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जैन पर, विदेशियों को निकाल कर, अधिकार जमाया था। एक स्थल पर उज्जयिनी की जगह उन्हों ने 'पाटलिपुरवराधीश्वर' अपनी उपाधि लिखी है जिस से स्पष्ट है कि दक्षिण के गुप्तवंशी अपनी मूल राजधानी पाटलिपुत्र को भूले न थे।' बोम्बे गज़ेटियर, जि० १, भाग २, फ़्लीट, कनारीज़ ज़िले के राजवंश, पृष्ठ ५७८।

के इस प्रसिद्ध विद्यापीठ में रह कर विजातीय महाक्षत्रप रुद्रदामा ने भी संस्कृत काव्य-कला में कौशल प्राप्त किया था यह उस की गिरनार की प्रशस्ति में लिखा है ।

पश्चिमी भारत का बड़ा भारी व्यापारिक केंद्र होने से उज्जैन नगर पाश्चात्य देशों में भी प्रसिद्ध था। ग्रीस के भूगोलज्ञ टालेमी ने ई० स० १३० के करीब भारत के प्रसिद्ध बंदरगाहों और व्यापारिक नगरों का वर्णन करते हुए अपने ग्रंथ में उज्जैन (ओज़ीन) का भी उल्लेख किया है।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की दक्षिण के वाकाटक वंश से संधि और उसका राजनीतिक महत्त्व

[दक्षिण के वाकाटक वंश का संक्षिप्त परिचय]

वैज्ञानिक आविष्कारों के पूर्व भारतवर्ष तीन प्राकृतिक विभागों में बँटा हुआ था। हिमालय और विंध्य पर्वतमालाओं के बीच का प्रदेश 'आर्यावर्त' वा 'उत्तरापथ' कहलाता था। नर्मदा नदी के दक्षिण से तुंगभद्रा नदी तक का देश 'दक्षिणापथ' माना जाता था। भारत के सुदूर दक्षिण प्रांत को तामिल वा द्राविड़ देश कहते थे। दक्षिण भारत के इन दोनों प्रांतों का परस्पर घना संबंध रहता था, किंतु आर्यावर्त से इन देशों का राजनीतिक पार्थक्य पूर्वकाल में अक्सर रहता था। राजनीतिक विभिन्नता के होते हुए भी समस्त देश की संस्कृति का तीनों ही विभागों पर कालक्रम से एक सा प्रभाव पड़ता था। विद्या, कला वा धर्म संबंधी जो आंदोलन आर्यावर्त में होते थे उन का असर धीरे धीरे दक्षिण की चरम सीमा तक पहुँच जाता था। प्राचीन काल में भाषा, वेष, जाति और राजनीति के विभेद होते हुए भी समस्त भारत का जीवन समान संस्कृति के सूत्र में ओतप्रोत रहता था। गुप्त-साम्राज्य के समय में तो आर्यावर्त और दक्षिण प्रांतों का राजनीतिक पार्थक्य भी बहुत कुछ मिट गया था। समुद्रगुप्त के 'चक्रवर्ती-क्षेत्र' में प्रायः दक्षिण के समस्त राज्य आ गए थे।

दक्षिण राज्यों को स्वाधिकार में कर उन पर स्वयं शासन करना गुप्त वंशियों को अभीष्ट न था। कदाचित् वे ऐसा कर भी नहीं सकते थे, क्यों कि दक्षिण के राजवंशों में तीसरी से छठी सदी तक वाकाटक वंश का प्रताप बहुत बढ़ा चढ़ा था। तीसरे शतक में दक्षिण के आंध्रवंश की शक्ति के क्षीण होने पर वाकाटक वंश का प्रभुत्व धीरे धीरे सारे दक्षिणापथ पर फैल गया था। गुप्त-सम्राटों से वाकाटक वंशियों का घनिष्ठ संबंध था। वे गुप्त वंशियों के मांडलिक नहीं, मित्र थे। इस से स्पष्ट है कि उन का प्रताप और वैभव कुछ कम न था। वाकाटक-वंशपरंपरा[1] में विंध्यशक्ति का नाम सब से पहले मिलता है। उसी ने इस वंश की पहले पहल प्रताप-पताका फहराई। उस के पुत्र महाराज प्रवरसेन प्रथम ने अश्वमेध यज्ञ किए और सम्राट् की पदवी प्राप्त की। उस के उत्तराधिकारी क्रम से गौतमीपुत्र, रुद्रसेन प्रथम, पृथ्वीषेण प्रथम, द्वितीय रुद्रसेन और

---

[1]**वाकाटक राज-परंपरा**

विंध्यशक्ति
|
प्रवरसेन प्रथम
|
रुद्रसेन
|
पृथ्वीषेण प्रथम
|
रुद्रसेन द्वितीय = प्रभावतीगुप्ता (द्वितीय चंद्रगुप्त और कुबेरनागा की राजपुत्री)
|
प्रवरसेन द्वितीय
|
नरेंद्रसेन
|
पृथ्वीषेण द्वितीय
|
हरिषेण

—बालाघाट ताम्रपत्र, एपि० इं० जि० ९, सं० २६।

द्वितीय प्रवरसेन हुए। अजंता के शिलालेख से पता चलता है कि पहले पृथ्वीषेण ने कुंतल (माइसोर) के कदंबवंशी राजा को परास्त किया। वाकाटकों की वंशावली अजंता की १६ वीं और १७ वीं गुफाओं के दो शिलालेखों से मिली है। चम्मक, सिवानी और छिंदवाड़ा के ताम्रपत्रों में भी उस का उल्लेख है। इन ताम्रपत्रों में लिखा है कि द्वितीय रुद्रसेन ने महाराजाधिराज देवगुप्त की राजकुमारी से विवाह किया। पूना से मिले हुए एक ताम्रपत्र के लेख से पता चलता है कि देवगुप्त चंद्रगुप्त द्वितीय का ही नामांतर था। इस में गुप्त वंशावली का भी उल्लेख है। इस ताम्र-पत्र में चंद्रगुप्त की राजपुत्री और वाकाटक रुद्रसेन की महाराणी प्रभा-वती के भूमि दान करने का उल्लेख है। रुद्रसेन की मृत्यु के बाद युवराज दिवाकरसेन के बाल्य-काल में महाराणी प्रभावती ने स्वयं राज्य-प्रबंध करते समय यह दान दिया था। गुप्त और वाकाटक वंशों का घनिष्ठ राजनीतिक संबंध इस लेख से प्रमाणित होता है। इस में महाराणी प्रभावती ने अपने पिता और पति के वंश की कीर्ति पर स्वाभिमान प्रकट किया है और अपने पति रुद्रसेन को वैष्णव धर्मानुयायी बतलाया है। उस का पिता चंद्रगुप्त भी 'परम भागवत' कहलाता था। कर्नूल ज़िले में श्रीशैल नाम का प्रसिद्ध मंदिर था। वहाँ के स्थल-माहात्म्य में

"वाकाटकललामस्य (क्र) म-प्राप्तनृपश्रियः।
जनन्या युवराजस्य शासनं रिपु शासनम्॥"

"......स्वस्ति नंदिवर्धनादासीद्गुप्तादिराजो महाराज श्रीघटोत्कचस्तस्य सत्पुत्रो श्रीचंद्रगुप्तस्तस्य सत्पुत्रोऽनेकाश्वमेधयाजी......श्री समुद्रगुप्तः—तत्पाद-परिगृहीतः पृथिव्यामप्रतिरथः सर्वराजोच्छेत्ता चतुरुदधिसलिलास्वादितयशा अनेक-गोहिरण्यकोटिसहस्रप्रदः परमभागवतो महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्तस्तस्य दुहिता नागकुलसंभूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालंकारभूताऽत्यंत-भगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराजश्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज श्रीदिवाकरसेन-जननी श्रीप्रभावतीगुप्ता......"। पूना प्लेट्स एपि० इं० जिल्द १५।

यह कथा लिखी है कि चंद्रगुप्त की राजकुमारी चंद्रावती को श्रीशैलेश्वर पर अनन्य भक्ति थी और वह प्रतिदिन उस पर मल्लिका की माला चढ़ाया करती थी।

ई० सन् ४००-५०० के मध्य में वाकाटकों का साम्राज्य दक्षिण भारत के अधिकांश भाग पर फैल चुका था। कुंतल के राजा इन के सामंत बन चुके थे। वाकाटक राज्य की दक्षिण सीमा कृष्णा नदी के तटस्थ वर्तमान कर्नूल नगर थी। गुप्तराज्य से पृथक् करने वाली नर्मदा नदी इस की उत्तरी सीमा थी। दक्षिण के ठीक मध्य भाग में वाकाटकों का अधिकार था और उन के ही द्वारा गुप्त-कलीन कला-कौशल, संस्कृत वाङ्मय और ब्राह्मण-धर्म का प्रसार और अभ्युत्थान सारे दक्षिण देशों में हुआ होगा।

शिल्प-कला में दक्षिण ने उत्तर भारत से भी कहीं अधिकतर उन्नति प्राप्त की थी। अजंता विहार की अद्‌भुत चित्र-कला, उदयगिरि, जुन्नार, इलौरा, नासिक, कान्हेरी, कार्ले की चट्टानों से खोद कर बनाई गुफाओं के शिल्प और निर्माण कला दक्षिण भारत की सभ्यता के उत्तरोत्तर उन्नति के ज्वलंत उदाहरण हैं। वाकाटकों के राज्य-काल में वैदिक यज्ञ-यागादिक का और ब्राह्मण धर्म के शैव और भागवत संप्रदायों का प्रचार भी दक्षिणापथ में बढ़ा, क्योंकि इस वंश के राजा ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। साहित्य की भी श्रीवृद्धि उन के समय में हुई। महाकवि बाण ने हर्षचरित में पूर्वकालीन प्रसिद्ध कवियों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्रवरसेन ने 'सेतु काव्य' रचा था, जो सूक्तिरत्नों का सागर है।[1] यह प्रवरसेन (द्वितीय) वाकाटक नरेश द्वितीय रुद्रसेन का पुत्र और उत्तराधिकारी था। रुद्रसेन के पश्चात् चौथा प्रतापी राजा हरिषेण हुआ, जिस के राज्य-काल में अजंता के शिलालेख वाली गुफाएँ खोदी गई थीं।

---

[1] कीर्तिर्प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥ बाण, हर्षचरित १।

जूवो ड्यूबरयोल (Jeavou Dubrieul) दक्षिण का प्राचीन इतिहास।

हरिषेण और इन गुफाओं का काल लगभग ई० स० ५०० अनुमान किया जाता है। गुप्तवंश और वाकाटक वंश के बीच मित्रता का संबंध पाँचवीं सदी के अंत तक बना रहा, जो दोनों ही के लिये बड़ा हित कर सिद्ध हुआ होगा। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का वाकाटक नरेश रुद्रसेन के साथ अपनी कन्या प्रभावती के विवाह करने का एक मुख्य कारण यह भी होगा कि ई० स० ४०० के लगभग क्षत्रपों से जीते हुए मालवा और सुराष्ट्र प्रांत दक्षिण-नरेशों के हमलों से सुरक्षित रहें। नर्मदा के उस पार के एक शक्तिशाली राजवंश से 'समसंधि' और मित्रता की नीति का अनुसरण कर चंद्रगुप्त ने अपनी प्रगाढ़ नीतिनिपुणता और दूरदर्शिता का परिचय दिया। गुप्त-साम्राज्य की रक्षा और चिरस्थिति के लिये यही नीति परम उपादेय थी और कदाचित् पश्चिमी क्षत्रप वंश के नाश करने में भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुई।

बंगाल के बिलोचिस्तान तथा दक्षिण समुद्र पर्यंत सम्राट् 'चंद्र' की विजय-यात्रा

दिल्ली के समीप कुतुबमीनार के पास के लोह-स्तंभ पर खुदे हुए लेख में 'चंद्र' नाम वाले जिस विजयी राजा का वृत्तांत लिखा है वह 'चंद्र' कौन था? क्या वह पहला वा दूसरा गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त था वा अन्य कोई राजा था? इन प्रश्नों पर पुरातत्वविदों में परस्पर बड़ा मतभेद रहा है। अन्य गुप्त शिला-लेखों की शैली से भिन्न उस चंद्र की विजय-प्रशस्ति में कहीं भी संवत् अथवा राजवंश का उल्लेख न होने से उस वीर विजयी का ठीक ठीक पता नहीं लगता। इस लेख का प्रतापशाली राजा चंद्र यदि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य मान लिया जाय तो हमें उस के समय की दो महान् घटनाओं का पता चलता है। पहली यह घटना थी कि बंगदेश में शत्रुओं ने मिल कर उस के विरुद्ध राज-द्रोह का झंडा उठाया, किंतु राजा चंद्र ने युद्ध में अपने खड्ग से उन्हें धराशायी कर दिया। सिंधु नद के सात मुखों

को लाँघ कर समर में विजातीय वाह्लीकों को उस ने जीता यह दूसरी घटना थी। इन दो घटनाओं के उल्लेख के अतिरिक्त इस स्तंभ-लेख में कहा गया है कि उस के 'पराक्रम रूपी पवन के झकोरों से दक्षिण समुद्र अब तक सुवासित हो रहा है।' 'उस ने एकाधिराज्य अपनी भुजा से प्राप्त किया और चिरकाल तक उसे भोगा,' 'भक्तिभाव से विष्णु में निविष्टमति हो कर उस राजा ने भगवान विष्णु का एक ऊँचा ध्वजस्तंभ विष्णुपद नामक पहाड़ी पर स्थापित किया'। इस उपर्युक्त लेख की बातों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि जिस प्रतापशाली चंद्र का इस में वर्णन है वह सर्वथा चंद्रगुप्त द्वितीय ही हो सकता है। वह अपने आप को 'परम भागवत' मानता था और प्रजा भी उसे ऐसा ही कहती थी।

(१) इस लेख की अंतिम पंक्तियों में राजा चंद्र की भगवद्भक्ति का विशद वर्णन है।

(२) इस लेख में चंद्र के 'एकाधिराज्य' का उल्लेख है। चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता समुद्रगुप्त से एक विशाल साम्राज्य प्राप्त किया था और मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र देशों को जीत कर पश्चिम पयोधि तक अपना साम्राज्य बढ़ाया था। समुद्रपर्यंत पृथ्वी का राजा 'एकराट्' कहलाता था। 'चिरकाल तक एकाधिराज्य' के भोगने वाला प्रथम चंद्रगुप्त नहीं हुआ, बल्कि द्वितीय चंद्रगुप्त था, जिस का शासन-काल लगभग ई० स० ३८० से ४१४ तक रहा था।

(३) दक्षिण समुद्र तक जिस शूरवीर का यश फैल रहा हो ऐसा राजा अवश्य समुद्रगुप्त ही होना चाहिये—"चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसः", परंतु जो यश पिता ने पाया उसे उस के पुत्र और उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त द्वितीय ने बढ़ाया ही, घटाया नहीं, इस का इतिहास साक्षी है। उपर्युक्त विशेषण से दोनों पिता-पुत्र का वर्णन करना नितांत उचित है। पूना से मिले हुए प्रभावतीगुप्ता के ताम्रशासन में चंद्रगुप्त द्वितीय का भी उक्त विशेषण मिलता है।

(४) बंगाल में चंद्र के विरुद्ध शत्रुओं का मिल कर युद्ध के लिये कटि-बद्ध हो जाने की घटना समुद्रगुप्त के परवर्ती काल में ही होना संभव है, क्योंकि बंग-देश के राजाओं ने चंद्रगुप्त द्वितीय को भारत के पश्चिम प्रांतों में युद्ध में व्यापृत देख कर कदाचित् गुप्त-साम्राज्य से स्वतंत्र हो जाने का उद्योग किया होगा।[१] समुद्रगुप्त के समय बंगाल तो गुप्त-साम्राज्य के अधीन हो ही चुका था। प्रयाग की प्रशस्ति में यद्यपि बंग-देश का उल्लेख नहीं है तथापि समुद्रगुप्त के साम्राज्य के अधीन 'डवाक' (ढाका और सुनार गाँव) और 'समतट' (ब्रह्मपुत्रा नदी के तटस्थ प्रदेश) और कामरूप (आसाम) नाम के बंगाल के ही राज्य थे। दामोदरपुर (जिला दीनाजपुर) से मिले हुए ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उत्तरी बंगाल ('पुंड्रवर्धन भुक्ति') ई० स० ४४३-४४ में गुप्त-साम्राज्य में शामिल था। अतएव, यही अनु-मान ठीक मालूम होता है कि बंगाल के राजविद्रोह को चंद्रगुप्त द्वितीय ने शांत किया होगा।

(५) सिंधु के सात मुखों को पार कर चंद्र ने वाह्लीक लोगों को जीता था। बलख़ का मार्ग सिंधु के मुख की ओर से नहीं था। जोन एलन के मतानुसार 'वाह्लीक' शब्द से यवन और पह्लव की भाँति सिंधु के पारवर्ती किसी विदेशी जाति का तात्पर्य हो सकता है जो कदाचित् बलो-चिस्तान के आस पास बसी हुई थी। इसलिये चंद्र ने बलख़ तक न जा कर बलोचिस्तान पर आक्रमण किया होगा।

(६) प्राचीन लिपि-तत्व के अनुसार, फ्लीट, होर्नले, स्मिथ आदि विद्वान इस लोहस्तंभ के अक्षरों को गुप्त-काल के प्रारंभ का ही मानते हैं। इस समय ऐसा प्रतापशाली और कोई चंद्र नाम का राजा न होने से इस लेख को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का ही समझना युक्ति-संगत मालूम होता है।

---

[१] तुलना कीजिए—वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान् गंगास्रोतोंतरेषु सः॥
रघुवंश, ४।

पूर्वोक्त लेख के संबंध में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह लेख चंद्रवर्मा का है जिस का उल्लेख समुद्रगुप्त के जीते हुए आर्यावर्त के नौ राजाओं में है। इस मत के समर्थन में उन्हों ने दो शिलालेखों के प्रमाण दिए हैं। पहला लेख बंगाल की सुसुनिया पहाड़ी का है, जिस में पुष्करण (मारवाड़) के राजा महाराज सिंहवर्मा के पुत्र महाराज चंद्रवर्मा के द्वारा चक्रस्वामी के मंदिर में चक्र अर्पण करने का उल्लेख है। इसी आधार पर उक्त शास्त्री महोदय ने चंद्रवर्मा को वंग-विजेता मान कर महरौली के स्तंभ पर के चंद्र से मिला दिया है। दूसरा शिलालेख मंदसोर से मिला है जिस में लिखा है कि मालव संवत् ४६१ (ई० स० ४०४) में सिंहवर्मा का पुत्र नरवर्मा (पश्चिम) मालवा का शासक था। अतएव चंद्रवर्मा नरवर्मा का बड़ा भाई होगा। ई० स० ४०४ में नरवर्मा चंद्रगुप्त द्वितीय का समकालीन था। नरवर्मा के राज्य-काल के पूर्व समुद्रगुप्त ने (ई० स० ३४५-३८०) चंद्र-वर्मा को परास्त किया था। मालवा के इन वर्मांत राजाओं की निम्न-

जयवर्मन्
|
सिंहवर्मन्-(सुसुनिया, मंदसोर)
|
- चंद्रवर्मन्-[1] (समुद्रगुप्त से विजित) [३४५=३८० ई० स०]
- नरवर्मन् (ई०स०४०४) चं० गु० की समकालीन
  |
  विश्ववर्मन्[2]
  |
  बंधुवर्मन् (ई० स० ४३६) कुमारगुप्त का सामंत

---
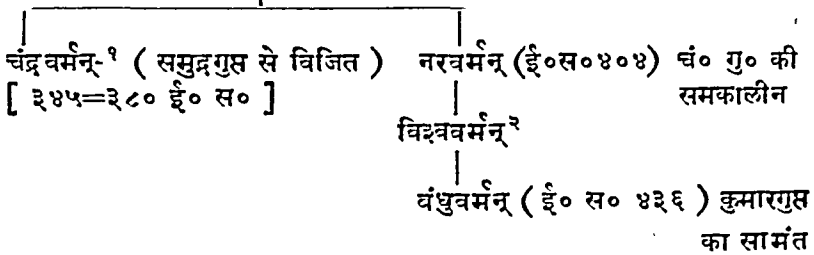
[1] "पुष्करणाधिपते महाराज सिंहवर्मण: पुत्रस्य महाराज श्रीचंद्रवर्मण: कृति:। चक्रस्वामिन: दासाग्रेणातिसृष्ट:।"

एपि० ई० १३।

[2] देखो पृ० ५७।

लिखित वंशावली गंगधार (झालरापाटन) और मंदसोर के संवत् समेत शिलालेखों से मिलती है:—

समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त के शासन-काल के मध्य में चंद्रवर्मा आदि राजाओं का स्वाधीन हो जाना असंभव प्रतीत होता है। द्वितीय चंद्रगुप्त ने अपनी युद्ध-यात्रा मालवा आदि पश्चिमी भारत के प्रांतों में विशेष रूप से की थी। उस के उत्तराधिकारी कुमारगुप्त के समय में मालवराजा बंधुवर्मा गुप्त-साम्राज्य का सामंत (मालवा का गोप्ता) था। ई० स० ४०४ से ई० स० ४३६ तक की ३२ वर्ष की अवधि में उक्त चंद्रवर्मा, नरवर्मा आदि राजा द्वितीय चंद्रगुप्त वा कुमारगुप्त से स्वतंत्र हो गए इस का कोई प्रमाण नहीं मिलता। महाराजाधिराज चंद्रगुप्त प्रथम वा समुद्रगुप्त के काल में चंद्रवर्मा का, सारे आर्यावर्त के राज्यों को लांघ कर और मगध-सम्राटों को न कुछ समझ कर, वंग-विजय करना हमें असंभव लगता है। सुसुनिया के लेख में केवल चक्रदान का ही वर्णन है। अतः चंद्रवर्मा बंगाल में तीर्थ-यात्रा के निमित्त गया होगा। अतएव, उक्त शास्त्री जी की 'चंद्र' संबंधी कल्पना हमें निरी निर्मूल मालूम होती है।

महरौली के स्तंभ पर का 'चंद्र' प्रथम चंद्रगुप्त भी नहीं हो सकता, क्योंकि सिंधु के उस पार बसे हुए वाह्लीकों पर मगध से चल कर आर्यावर्त के और शक, कुशान आदि अनेक राज्यों को लांघ कर उस का आक्रमण करना दुष्कर ही नहीं, असंभव जान पड़ता है। वस्तुतः उन अनेक राज्यों से प्रथम चंद्रगुप्त के पश्चात् समुद्रगुप्त को युद्ध करना पड़ा था जैसा कि उस के प्रयाग के स्तंभ लेख में वर्णित है। इस के अलावा प्रथम चंद्रगुप्त के 'परम भागवत' होने की प्रसिद्धि नहीं हुई। गुप्त-काल के सिक्के और शिलालेखों में 'परम भागवत' कहलाने वाला पहला राजा द्वितीय चंद्रगुप्त

कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति । २३
बभूव गोप्ता नृपविश्ववर्मा । २४
तस्यात्मज ... नृपबंधुवर्मा । २६

} मंदसोर का स्तंभलेख, ई० स० ४३६ फ्लीट, गु० शि० १८ ।

ही था। अतएव, हमारा अनुमान है कि बंगाल से बलोचिस्तान के देशों तक दिग्विजय करने वाला, शकारि, परम भागवत, महाराजाधिराज द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ही था, जो दिल्ली के लोह-स्तंभ पर उत्कीर्ण प्रशस्ति में 'चंद्र' के नाम से प्रथित हुआ है। उस के कुछ सिक्के ऐसे भी मिले हैं जिन पर एक ओर 'श्रीचंद्र' और दूसरी ओर 'गुप्त' लिखा रहता है। उस के कलशांकित सिक्कों पर सिर्फ़ एक ओर 'चंद्र' लिखा रहता है और इस नाम के ऊपर अर्ध चंद्र का आकार बना होता है।

चंद्र की विजय-प्रशस्ति के श्लोकबद्ध होने से उस में चंद्रगुप्त के पूरे नाम का निवेश नहीं हो सकता था। अतएव उक्त सिक्कों की तरह 'चंद्र' से ही उस के नाम का संकेत किया गया है। बंगाल की खाड़ी से सिंधु के पार तक जिस की विजय-वैजयंती फहराती थी, जिस ने समस्त पृथ्वी के विजय की यात्रा के लिये चल कर शक वंश को समूल उच्छिन्न किया था, जिस का प्रताप दक्षिण के विशाल वाकाटक-राज्य के कुंतल (मैसोर) देश पर्यंत छाया हुआ था, जिस के पराक्रम का द्योतक विरुद 'विक्रमादित्य' था वह 'पराक्रमांक' सम्राट् समुद्रगुप्त का पुत्र द्वितीय चंद्रगुप्त ही था। कदाचित् महाकवि कालिदास ने इंदुमती के स्वयंवर में एकत्र राजाओं का वर्णन करते हुए, श्लेषालंकार से, अपने आश्रयदाता इसी 'मगधेश्वर' की प्रशंसा नीचे के श्लोक में की हो—

कामं नृपाः संतु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलाऽपि ज्योतिष्मती चंद्रमसैव रात्रिः॥

(रघुवंश, ६)

चौथा अध्याय

द्वितीय चंद्रगुप्त का चरित्र

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के विषय में कोई ऐसा बृहत् शिलालेख नहीं मिला जैसा उस के पिता सम्राट् समुद्रगुप्त के विषय में मिलता है। अतएव, इस महाप्रतापी सम्राट् के जीवन-वृत्तांत के लिखने के ऐतिहासिक साधन बहुत ही कम हैं। उस के चरित्र की रूप-रेखा विशद रूप से नहीं लिखी जा सकती। यदि कोई महाकवि हरिषेण के सदृश प्रशस्ति-लेखक उस का आश्रित होता तो कदाचित् उस के जीवन के वृत्तांत और चरित्र की चारुता का परिचय हमें मिलने का सौभाग्य होता। उस के अधिकार-काल के शिलालेखों और सिक्कों से जो कुछ थोड़े बहुत उस के जीवन संबंधी संकेत मिलते हैं उन्हें एकत्र कर लेने पर हमें वह अपने प्रतापी पिता के सदृश कई बातों में प्रतीत होता है। समुद्रगुप्त की भाँति द्वितीय चंद्रगुप्त ज्येष्ठ पुत्र न होने पर भी अपने भाइयों में योग्यतम होने के कारण अपने पिता द्वारा राज्य का उत्तराधिकारी चुना गया था। गुप्त-सम्राटों की वंशावलियों में प्राय: उल्लेख मिलता है कि चंद्रगुप्त समुद्रगुप्त का पुत्र था, वह अपने पिता द्वारा उत्तराधिकारी चुना गया था—"तत्परिगृहीत:" और महादेवी दत्तदेवी की कोख से उत्पन्न हुआ था। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में स्पष्ट लिखा है कि उस के पिता प्रथम चंद्रगुप्त ने अपने सब राजकुमारों में ज्येष्ठ न होने पर भी समुद्रगुप्त को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया था। समुद्रगुप्त ने भी उस की नीति का अनुसरण कर अपने योग्यतम पुत्र द्वितीय चंद्रगुप्त को साम्राज्य के शासन का भार सुपुर्द कर, 'सर्वत्र

जयमिच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इस नीति को चरितार्थ किया।[1] समुद्रगुप्त ने चंद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी बना कर अपने अभीष्ट में पूर्ण सफलता पाई यह उस के परवर्ती काल के इतिहास से निर्विवाद सिद्ध है। चंद्रगुप्त द्वितीय निरा रणरसिक सम्राट् न था। अपने पिता की भाँति वह विद्वानों का आश्रयदाता और विष्णु का परम भक्त था। पुरानी दिल्ली की प्रसिद्ध लोह की लाट (जो कुतुब मीनार के पास एक प्राचीन मंदिर के बीच खड़ी हुई है) चंद्रगुप्त ने बनवा कर विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर किसी विष्णु-मंदिर के आगे बड़ी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक ध्वज-स्तंभ के रूप से स्थापित करवाई थी। उदयगिरि की गुफा के तथा साँची के शिलालेखों से विदित होता है कि उस ने विद्वानों को ऊँचे ऊँचे अधिकारों पर नियत किया था। चंद्रगुप्त के संधि-विग्रह-विभाग का मंत्री पाटलिपुत्र निवासी कवि वीरसेन था जो व्याकरण, साहित्य न्याय और लोकनीति का ज्ञाता था। उस ने उदय गिरि में राजा के साथ रह कर भगवान शिव के अर्चनार्थ एक गुफा उत्सर्ग की थी। इस से स्पष्ट है कि परम वैष्णव होते हुए भी चंद्रगुप्त शैव मतावलंबियों का आदर करता था। साँची के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त के यहाँ किसी बड़े सैनिक पद पर बौद्ध अम्रकार्दव[2] नाम का अफसर नियुक्त था, जिस ने साँची के काकानोबोट नाम के महाविहार के आर्यसंघ को २५ दीनार और एक गाँव प्रतिदिन ५ भिक्षुओं के भोजन के लिये और रत्न-गृह में दीपक जलाने के लिये दान दिए थे।

'परम भागवत' कहलाने वाले महाराजाधिराज चंद्रगुप्त का उच्च पदस्थ अधिकारी, जो अपने आप को राजा का परम कृपापात्र और कृतज्ञ मानता था, यदि बौद्ध भिक्षुओं के लिये और रत्नगृह में दीपक जलाने के लिये दान दे तो इस से प्रकट होता है कि गुप्त-सम्राट् और उस के अधि-

---

[1] "रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्विभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥" रघुवंश ३।

[2] 'अनेक समरावाप्तविजययशस्पताकः।' फ्लीट, गु० इं०।

कारी बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि संप्रदायों के प्रति आदर-सत्कार वा दान करने में किसी पर भेद-भाव न रखते थे। ऐसे उदारमनस्क सम्राट् के शासन में भिन्न भिन्न संप्रदायों में परस्पर विद्वेष होने का कोई अवसर न होता था। चीनी यात्री फाहियान ने भी अपने भारत के भ्रमण-वृत्तांत में उस समय के राजा और प्रजा की उदारता और दानशीलता की भूरिशः प्रशंसा की है।

द्वितीय चंद्रगुप्त ने अनेक खिताब धारण किए थे, जो उस के विविध प्रकार के सिक्कों पर अंकित मिलते हैं। इन उपाधियों में विक्रमांक, विक्रमादित्य, श्रीविक्रम, अजितविक्रम, सिंहविक्रम, नरेंद्रचंद्र, परम भागवत, महाराजाधिराज, इत्यादि मुख्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी भगवद्भक्ति, वीरता और प्रताप को जगत् में प्रख्यात करने के लिये ही उस ने इन सब महान उपाधियों को अपने सिक्कों पर खुदवाया होगा। समुद्रगुप्त की भाँति उस ने भी अपने सिक्कों पर ललित संस्कृत छंदों में अपना नाम और कारनामे लिखवाए। उदाहरणार्थ, सिंहवधांकित सिक्कों पर संस्कृत के वंशस्थ छंद में यह पद लिखा रहता है :—

नरेंद्रचंद्रः प्रथितश्रिया दिवं
जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः

उस के छत्रधरांकित सिक्कों पर उपगीति छंद में लिखा रहता है—
"क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवंजयति विक्रमादित्यः"

"पृथ्वी को जीत कर विक्रमादित्य सुचरितों से (पुण्यकर्मों से) स्वर्ग को जीतता है।"

सुचरित एवं उत्तम कर्मों से स्वर्ग के जीतने का साधन हिंदू धर्म के अनुसार यज्ञयागादिक का अनुष्ठान है। "स्वर्ग कामो यजेत्"—स्वर्ग की इच्छा करने वाला यज्ञ करे इस प्रकार की विधि हिंदू शास्त्रों में मिलती है। यज्ञ-जनित पुण्य से मनुष्य देवता और इंद्र की पदवी पा सकता है, ऐसा हिंदुओं का बहुत पुरातन विश्वास है। इस से स्पष्ट प्रकट होता है

कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य को यज्ञ, दान आदि वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में बड़ी अभिरुचि थी।[1]

संभवतः, परम भक्त और धर्मपरायण होने के कारण द्वितीय चंद्रगुप्त 'राजाधिराजर्षि' कहलाता था, जैसा कि उदयगिरि के लेख में वीरसेन ने उल्लेख किया है। कई एक शिलालेखों में उस के नाम के साथ 'परम भागवत' जोड़ना आवश्यक समझा गया था। उस का कौटुंबिक जीवन भी धार्मिक भाव से प्रभावित मालूम होता है। उस की राजपुत्री प्रभावतीगुप्ता अपने पिता की तरह अपने आप को 'अत्यंतभगवद्भक्ता' अपने ताम्रशासकों में लिखा करती थी। चंद्रगुप्त विक्रमांक के कुछ सिक्कों पर 'रूपकृती' लिखा होने से मुद्रातत्वज्ञ विंसेंट स्मिथ ने अनुमान किया है कि वह नाट्य-कला में प्रवीण और नाटकों का रचयिता था, क्योंकि रूप वा रूपक शब्द का अर्थ नाटक है और कृती का अर्थ रचने वाला है। परंतु जोन एलन इस पद का पाठांतर "रूपाकृती" वतलाते हैं और रूप और आकृति इन दो पदों से उस के शारीरिक और आध्यात्मिक गुण सूचित होते हैं ऐसा मानते हैं।[2] चंद्रगुप्त विक्रमांक स्वयं कदाचित् नाट्यकार न हो, पर साहित्य का प्रेमी और पोषक अवश्य होगा, जैसा कि भारत की साहित्यिक कथाओं में उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के विषय में प्रसिद्ध है। संस्कृत के प्रसिद्ध गद्य-कवि सुवंधु ने—जो छठे शतक के अंत में हुए थे—अपनी 'वासवदत्ता' नाम की आख्यायिका में लिखा है :—

"सा रसवत्ता विहता नवका विलसंति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥"

अर्थात् 'रसवत्ता नष्ट हो चुकी, नये लोग विलास करने लगे। कौन किसे नहीं खा जाता? सरोवर की भाँति जव पृथ्वी पर विक्रमादित्य की कीर्ति शेष रह गई।'

---

[1]जोन एलन—गुप्तवंश के सिक्के—प्रस्तावना—पृ० १०७।

[2]वही पृ० ११२।

महाकवि राजशेखर ने साहसांक नाम के आदर्श साहित्य-प्रेमी उज्जैन के राजा का उल्लेख किया है और कहा है कि उस को संस्कृत विद्या में इतना उत्कट प्रेम था कि उस ने अपने अंतःपुर में भी संस्कृत बोलने का नियम कर दिया था।[1] यह हम पर सुविदित है कि चंद्रगुप्त द्वितीय के सिक्कों पर 'विक्रमांक' उपाधि मिलती है। साहसांक और विक्रमांक दोनों पर्यायवाची पद हैं। संभवतः यह उज्जैन का राजा साहसांक चंद्रगुप्त विक्रमांक ही हो। राजशेखर ने लिखा है कि उज्जैन में काव्यकारों की परीक्षा हुआ करती थी और वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक, साहसांक आदि पहले नरेश उन्हें दान मान से परितुष्ट करते थे। राजशेखर ने जिन 'ब्रह्म-सभाओं' का वर्णन किया है उन के सभापति राजा होते थे और वे स्वयं विद्वान् होते थे।

राजशेखर ने लिखा है कि कालिदास, मेंठ, भारवि, चंद्रगुप्त आदि काव्यकारों की उज्जयिनी में परीक्षा हुई थी। कदाचित् पूर्वोक्त चंद्रगुप्त उज्जैन का गुप्त-सम्राट् विक्रमादित्य ही हो। पाटलिपुत्र में शास्त्रकारों की परीक्षा होती थी। वहाँ से परीक्षोत्तीर्ण हो कर उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि, पतंजलि ने शास्त्रकार रूप से ख्याति प्राप्त की थी। इस पुरानी क्रमागत कथा का राजशेखर ने उल्लेख किया है। सम्राट् समुद्रगुप्त को तो विद्वानों के सत्संग का व्यसन ही था—'प्रज्ञानुषंगोचितसुख-मनसः', वह कविगोष्ठी में बैठ कर अनेक अपनी काव्य की रचनाओं से

---

[1] 'स्वभवने हि भाषा नियमनं यथा प्रभुर्विदधाति तथा भवति श्रूयते हि उज्जयिन्यां साहसांको नाम राजा तेन संस्कृतभाषात्मकमंतःपुर एवं प्रवर्तितो नियमः।'

—काव्यमीमांसा, पृ० ५० ।

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

"इह कालिदासमेंठावत्रामररूपसूरभारवयः ।

हरिश्चंद्रचंद्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥"

'वासुदेवसातवाहनशूद्रकसाहसांकादीन्सकलान्सभापतीन् दानमानाभ्यामनु-कुर्यात् ।'

—काव्यमीमांसा, पृ० ५५ ।

विद्वानों का मनोरंजन किया करता था—'विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्य-क्रियाभिः', विद्वल्लोक में उस को कविता का कीर्ति-राज्य मिला था—'विद्वल्लोके स्फुटवहुकविताकीर्तिराज्यं भुनक्ति', शास्त्रज्ञों की सभा में शास्त्र के तत्त्वार्थ का वह समर्थन करता था—'शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः। उस का शास्त्र-पांडित्य तलस्पर्शी था—'वैदुष्यं तत्त्वभेदि'। कवि राजशेखर ने जैसे विद्वानों के आश्रयदाता आदर्श राजा का वर्णन किया है वह समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य में सर्वथा चरितार्थ होता है। विद्वानों का दानमान से सत्कार करना तो गुप्त-सम्राटों ने अपना कुल-धर्म मान रखा था। काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में वामन ने (ई० स० नवम में) चंद्रगुप्त के 'चंद्रप्रकाश' नाम वा उपाधि वाले नवयुवक पुत्र को विद्वानों का आश्रयदाता लिखा है—

सोऽयं संप्रति चंद्रगुप्ततनयः चंद्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥

जोन एलन के मतानुसार 'चंद्रप्रकाश' द्वितीय चंद्रगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी कुमारगुप्त का विशेषण कदाचित् हो सकता है, क्योंकि कुमारगुप्त के सिक्कों पर 'गुप्तकुलामलचंद्र' और 'गुप्तकुलव्योमशशी' आदि उपाधियाँ मिलती हैं। इसी प्रकार संस्कृत के अनेक लेखकों ने विक्रमादित्य को विद्वानों के आश्रय-दाता होने का उल्लेख किया है और उस की दान-वीरता की प्रशंसा की है। चीनी यात्री हुयेनसंग के समय में विक्रमादित्य दानशूरता के कारण लोक में प्रख्यात था। उस ने लिखा है कि 'वसुबंधु के समय में श्रावस्ती के राजा विक्रमादित्य का प्रभाव चारों दिशाओं में व्याप्त हो रहा था। उस ने जब भारतीयों को वश में किया उस दिन दरिद्र और अनाथ प्रजा में पाँच लाख सुवर्ण मुद्रा का दान किया।'[1]

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय के शिलालेख अपूर्ण और टूटे होने से उस के व्यक्तिगत गुणों का विशेष परिचय नहीं मिलता, परंतु तत्कालीन सब प्रकार के ऐतिहासिक उपकरणों पर पूर्वापर विचार करने से यह

[1] वॉटर्स—ह्वेनसांग का प्रवास-वर्णन, १, पृष्ट २११।

स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह भी अपने महाप्रतापी पिता की भाँति शूर-वीर, बुद्धिमान, गुणग्राहक और नीति-निष्णात था। वह साहस और पराक्रम का पुतला था। बाण ने कदाचित् हर्षचरित में उस के ही विषय में लिखा है कि शत्रु के नगर में परस्त्री की कामना करने वाले शकराजा को स्त्री के वेष में छिपे हुए चंद्रगुप्त ने मार डाला। इस कथा में तथ्य हो वा न हो, पर चंद्रगुप्त की मुद्राओं से इतना तो स्पष्ट है कि उसे अपनी वीरता और साहस का अभिमान था। उस के कुछ सिक्कों पर राजा के पैर के नीचे सिंह की मूर्ति और कुछ पर घायल हो कर भागते हुए सिंह की मूर्ति अंकित है, जिन से उस की वीरता और साहस व्यक्त होता है। उस के समय में प्रचलित भाँति भाँति के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों की प्रचुरता से अनुमान किया जाता है कि द्वितीय चंद्रगुप्त का शासन-काल शांतिपूर्ण और चिरस्थायी रहा होगा और उस की प्रजा अपने योगक्षेम के साधक उद्योग-धंधों में लग रही होगी। चीनी यात्री फाहियान के यात्रा-वृत्तांत से पाया जाता है कि चंद्रगुप्त की प्रजा धनधान्यसंपन्न और सुखी थी, लोग उस समय बहुत कुछ स्वतंत्र थे, प्राणदंड किसी को नहीं दिया जाता था, धर्मशालाओं और औषधालयों का प्रबंध उत्तम था और विद्या का अच्छा प्रचार था।

द्वितीय चंद्रगुप्त को देवगुप्त और देवराज भी कहते थे। साँची के लेख में 'महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्तस्य देवराज इति प्रिय नाम' लिखा है जो उस का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। उस का दूसरा नाम 'देवगुप्त' चामुक से मिले वाकाटक महाराज द्वितीय प्रवरसेन के लेख में मिलता है, जिस में उस के पिता रुद्रसेन (द्वितीय) का महाराजाधिराज देवगुप्त की कन्या 'प्रभावतीगुप्ता' से विवाह करने का उल्लेख है। चंद्रगुप्त की दो राणियाँ थीं,—एक तो नागकुल की कुबेरनागा जिस से प्रभावती का जन्म हुआ और दूसरी राणी ध्रुवदेवी से दो पुत्र कुमारगुप्त और गोविंद-गुप्त उत्पन्न हुए जिन में से कुमारगुप्त अपने पिता के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा।

गुप्तवंशी सम्राटों ने अपने विवाह-संबंध द्वारा उस समय के बड़े बड़े राजघरानों से मित्रता स्थापित की थी। उन के विवाह-संबंध बड़े राजनीतिक महत्त्व के थे। प्रथम चंद्रगुप्त ने प्रसिद्ध लिच्छिवि वंश में अपना विवाह किया था जिस के कारण मगध में उस का अधिकार दृढ़ हो गया। उस के वंशधर अपने लिच्छिवि-संबंध का बड़ा गौरव मानते थे और कदाचित् उस रिश्तेदारी को अपने अभ्युदय का कारण भी समझते थे। आर्यावर्त के राजाओं की विजय के पश्चात् उन्हों ने दूसरे राजकुलों में विवाह किए जिन से उन की सत्ता विजित राज्यों में दृढ़ हो सकती थी। इस नीति के अनुसार द्वितीय चंद्रगुप्त ने 'नागकुलोत्पन्न' महाराणी कुबेरनागा[1] से विवाह किया था। मथुरा और पद्मावती के आस पास के प्रदेशों पर शासन करने वाला नागवंश प्राचीन काल से प्रसिद्ध था। गुप्तवंश के उदय के पहले इस वंश के राजाओं ने अनेक अश्वमेध-यज्ञ किए थे। चंद्रगुप्त द्वितीय ने कुबेरनागा से उत्पन्न अपनी राजकुमारी प्रभावतीगुप्ता का विवाह दक्षिण के वाकाटक महाराज द्वितीय रुद्रसेन से किया था। यह भी संबंध बड़े राजनीतिक महत्त्व का था। डाक्टर स्मिथ का मत है कि वाकाटक महाराज का राज्य ऐसे देश पर था कि जहाँ से वह गुजरात और सुराष्ट्र के शकों के राज्य पर उत्तरी भारत से चढ़ाई करने वाले के लिये साधक और बाधक हो सकता था। अतएव चंद्रगुप्त ने अपनी दूरदर्शिता से वाकाटक राजा को अपनी राजपुत्री दे दी और उसे अपना अधीन सामंत बना लिया।

---

[1] नागवंश का अस्तित्व महाभारत युद्ध के पहले से पाया जाता है। यह वंश एक समय बहुत प्रसिद्ध था। विष्णुपुराण में ९ नागवंशी राजाओं का पद्मावती (ग्वालियर राज्य में), कांतिपुरी और मथुरा में राज्य करना लिखा है। उन के सिक्के भी मालवा में कई जगह मिले हैं। कुबेरनागा भी इसी वंश की थी।

गौ० ओझा, राजपूताने का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २३०।

पाँचवाँ अध्याय

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समसामयिक चीनी यात्री फाहियान का भारत-भ्रमण-वृत्तांत

प्राचीन भारत के इतिहास का थोड़ा बहुत पता जो हमें लगता है वह यूनानी और चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तांत से लगता है। सिकंदर के समय से (ई० सन् पूर्व) यूनान वाले इस देश में सैनिक, शासक तथा राजदूत बन कर आए थे। उन्हों ने अधिकतर इस देश की राजनीति, सामाजिक रीति-रस्म और भौगोलिक बातों ही का उल्लेख अपने यात्रा-वृत्तांतों में किया है। उन्हों ने भारतीय धर्म और शास्त्रों की छान बीन करने की विशेष परवाह नहीं की। किंतु चीनी यात्री विद्वान थे और बौद्ध-धर्म पर उत्कट श्रद्धा रखते थे। उन्हों ने हजारों मीलों की यात्रा इसलिये की थी कि वे पुण्य भूमि भारतवर्ष के बौद्ध तीर्थ-स्थानों का दर्शन करें, बौद्ध धर्म-ग्रंथों को एकत्र करें और उन्हें समझने के लिये यहाँ के विख्यात विद्यापीठों में संस्कृत और पाली भाषा को सीखें। इन यात्राओं में उन्हें अनेक संकट सहने पड़े, कभी वे लूटे गए, कभी मार्ग-भ्रष्ट हो कर भयंकर स्थानों में भटकते फिरे, परंतु निडर हो कर बीहड़ जंगल, ऊँचे पर्वत और नीची घाटियों को पार करते हुए वे केवल विद्या और धर्म के प्रेम के कारण अपने देश से भारतवर्ष की ओर चल पड़े। चीनी यात्रियों में चार के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं—पहला फाहियान, दूसरा सुंगयान, तीसरा हेनत्सांग और चौथा इत्सिंग। इन चारों ने अपनी अपनी यात्रा का वृत्तांत लिखा है। इन से उन के समय की भारतीय सभ्यता का बहुत कुछ पता चलता है।

ईसा के जन्म से बहुत पहले ही चीन देश में बौद्ध धर्म का प्रचार हो चला था। चीनी इतिहासकारों ने लिखा है कि चीन के सम्राट् मिंगटो ने ई० स० ६७ के लगभग भारतवर्ष से बौद्ध आचार्यों को बुलाने के लिये अपने दूत भेजे। वे राज-दूत कश्यप-मातंग और धर्मरक्षक नामक दो आचार्यों को उद्यान (काबुल) से अपने साथ चीन देश को ले गए। इन्हों ने बौद्ध धर्म के अनेक ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में कर वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इस प्रकार भारत का चीन देश से गुरु-शिष्य संबंध सुदृढ़ होता गया और तब से अनेक चीनी भिक्षु भारत में तीर्थाटन तथा ज्ञानोपार्जन के लिये आते रहे। ऐसे यात्रियों में जो अपनी भारत की यात्रा का वृत्तांत लिख कर छोड़ गए हैं फाहियान सब से पहला चीनी यात्री है।

फाहियान मध्यचीन के चांगगान नगर का रहनेवाला था। ई० सन् ४०० में वह भारत के लिये रवाना हुआ। चीन से भारत आने के लिये उस समय जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्ग थे। इन दोनों देशों के बीच का व्यापार अधिकतर स्थल-मार्ग से होता था जो खुतान नगर के पश्चिम से होता हुआ भारतवर्ष की उत्तर पश्चिमी सीमा पर पहुँचता था। जल का मार्ग जावा सुमात्रा और लंका आदि द्वीपों से हो कर यात्रियों को दक्षिण भारत में पहुँचाता था। दोनों मार्ग भयंकर थे। जल-मार्ग कुछ सीधा पड़ता था, पर पीले समुद्र के तूफ़ानों के कारण जहाज़ सदैव ख़तरे में रहते थे। फाहियान ने दोनों मार्गों के संकटों का सामना किया। वह अपने देश से भारत को स्थलमार्ग से आया और भारत से अपने देश को जलमार्ग से लौटा।

कई जनपदों को पार कर के कुछ साथियों के साथ वह खुतान पहुँचा। खुतान पहुँचने तक उसे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। लाप नामक मरुभूमि में उस की सहन-शक्ति और धैर्य की सब से बड़ी परीक्षा हुई। ऊपर से सूर्य की प्रखर किरणें निर्दयता से पड़ रही थीं, नीचे से तपी हुई बालू आग उगल रही थी और गरम हवा बीच में और बुरी गत

कर रही थी। प्यास के मारे उस के नाकों दम था। कोसों तक पानी नहीं मिला। कभी कभी वह राह से बे राह हो जाता था जिस से और आपत्ति उठानी पड़ती थी। एक स्थान पर फाहियान स्वयं लिखता है कि 'नदी उतरने में और मार्ग में चलने में जितने दुःख उठाने पड़े उतने किसी ने उठाए न होंगे।' इन आपत्तियों से उस के कई साथियों का साहस छूट गया और उन्हों ने यात्रा पूरी करने का विचार छोड़ दिया, परंतु फाहियान और उस के कुछ मित्रों ने अपना संकल्प न छोड़ा।

खुतान में उस की बड़ी आवभगत हुई। खुतान में उस समय बौद्ध-धर्म का प्रचार था। राजा प्रजा दोनों बौद्ध-धर्म के महायान पंथ को मानने वाले थे। राजा ने फाहियान को गोमती नामक संघाराम में ठहराया। फाहियान ने इस देश को हरा भरा देखा था। खुतान की आबादी घनी थी और लोग समृद्ध थे। उन का सामाजिक जीवन धर्ममय और आनंदपूर्ण था। घर घर के दरवाजे पर छोटे छोटे स्तूप बने हुए थे। अतिथि-सत्कार का बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। फाहियान जिस संघाराम में ठहराया गया था उस का नाम गोमती संघाराम था। उस में तीन हज़ार भिक्षु रहते थे जो बड़े संयमपूर्वक जीवन बिताया करते थे। फाहियान ने वहाँ एक रथ-यात्रा भी देखी थी। यह उत्सव बड़े समारोह से मनाया जाता था। इस यात्रा में राजा-प्रजा का वैभव अच्छी तरह प्रकट होता था। रत्नमय तोरण, चाँदी के डंडों पर रेशम की ध्वजाओं और रेशमी वितानों से सजाया हुआ रथ चलता हुआ महल सा लगता था। उस में सोने चाँदी की मूर्तियाँ रहती थीं। जब रथ नगर में आता था तो राजा मुकुट उतार कर नंगे पैरों उस की अगवानी के लिए जाता था और साष्टांग दंडवत् प्रणाम कर पूजा करता था। रानी अपनी दासियों के सहित राजद्वार के ऊपर से फूलों की वर्षा करती थी। नगर से कुछ दूर पर पश्चिम की तरफ़ राज्य की ओर से एक संघाराम बना हुआ था जो अस्सी वर्ष में बन कर तय्यार हुआ था। इन अस्सी वर्षों में तीन राजा सिंहासन पर बैठ चुके थे। इस विहार पर सुंदर खुदाई और पच्चीकारी का काम

था और भाँति भाँति के सोने चाँदी के पत्र और रत्न जड़े हुए थे। विहार के पिछवाड़े वुद्धदेव का एक रमणीय मंदिर था जिस की शोभा फाहियान के अनुसार वाणी से वर्णन नहीं की जा सकती। इस के धरन, खंभों, किवाड़ों और उन की चौखटों तथा जंगलों आदि पर सोने के पत्र मढ़े हुए थे। परंतु उन राजाओं की यह राजधानी जो इस प्रकार 'अपने धन और वहुमूल्य रत्नों का अधिकांश धर्मार्थ में लगाते थे' अव विल्कुल उजाड़ पड़ी है। उस के वैभव के चिह्न भू-गर्भ में पड़े हुए इतिहास के खोजने वालों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हाल ही में डाक्टर स्टीन को खोज में वहाँ प्राचीन महलों, स्तूपों, विहारों और वगीचों के वहुत से चिह्न मिले हैं, जो मूक भाषा में खुतान की प्राचीन समृद्धि की कथा सुनाते हैं। वह कथा उन से सुन कर डाक्टर स्टीन ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक में लिखी है। इस से फाहियान के कथन की सत्यता भी सिद्ध होती है।

खुतान से वह कावुल आया। कावुल उस समय भारत का ही एक प्रांत था। वहाँ से स्वात, गांधार और तक्षशिला होता हुआ वह पुरुपपुर या पेशावर पहुँचा। पेशावर में उस ने एक वहुत ऊँचा, सुंदर और मजवूत स्तूप देखा। इस के संवंध में फाहियान ने लिखा है कि अनेक स्तूप और मंदिर यात्रा में देखे पर इतना सुंदर और भव्य कोई और न मिला। वहाँ से आगे वढ़ कर सिंधु नद को पार करके वह मथुरा देश में पहुँचा। इस वीच उसे वरावर वहुत से विहार मिलते रहे जिन में उस ने लाखों श्रमणों का दर्शन किया। मथुरा नामक जनपद में यमुना के दाहिने वायें वीस विहार थे जिन में तीन सहस्र से अधिक भिक्षु रहते थे।

इस प्रकार असंख्य संकटों को झेल कर फाहियान ने अपने हृदय की चिरकाल-संचित अभिलाषा पूर्ण की। अव उस का एक ही साथी उस के साथ वच रहा था। अपने आप को वौद्ध-धर्म की जन्म देने वाली पवित्र भारत-भूमि में पा कर उस ने अपना जन्म धन्य माना और अपनी धार्मिक जिज्ञासा की पूर्ति में जी जान से लग गया। जहाँ जहाँ वह गया उस ने वौद्ध भिक्षुओं के साथ उन के विहारों और संघारामों में विश्राम किया

और अपना सारा समय बौद्ध तीर्थों के दर्शन और विनयपिटक आदि धर्म-ग्रंथों और बुद्ध की जन्म-कथाओं की खोज, संग्रह और अध्ययन में बिताया। साधारण सैलानी यात्रियों की तरह वह राजाओं के आतिथ्य का अभिलाषी और उन के आश्रय का भूखा न था। अपनी खोज और अध्ययन में वह इतना लवलीन था कि धार्मिक बातों को छोड़ कर उस का मन व्यावहारिक जगत की ओर जाता ही न था। उस का ध्यान केवल धर्म की ओर था। जिस स्थान पर वह जाता था वहाँ की और विशेषताओं के विषय में जानकारी प्राप्त करने का वह विशेष यत्न नहीं करता था। वह केवल यही जानने के लिए उत्सुक रहता था कि बुद्ध और उन के चलाये धर्म से उस का क्या संबंध है। तक्षशिला में कभी एक बहुत प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था, इस तथ्य की ओर उस का ध्यान नहीं जाता। परंतु वह यह खोज निकालता है कि जब बुद्धदेव बोधिसत्त्व थे तब उन्हों ने इस स्थान पर अपना सिर काट कर एक मनुष्य को दान किया था। धर्म से बाहर की बातों से उस की विरक्ति इतनी बढ़ी हुई थी कि उस ने अपने यात्रा-विवरण में आर्यावर्त के तत्कालीन सम्राट् महाप्रतापी चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का ज़िक्र तक नहीं किया यद्यपि वह उस के राज्य में पूरे छः साल रहा! इतना होने पर भी गुप्त साम्राज्य का अपरोक्षलिखित वर्णन एकमात्र फाहियान के ही ग्रंथ के पृष्ठों में मिलता है। यद्यपि तत्कालीन भारत का उस ने इतना विशद वर्णन नहीं किया है जितना कि हम चाहते हैं, फिर भी जो कुछ थोड़ी बहुत बातें उस ने लिखी हैं उन में चंद्रगुप्त के साम्राज्य की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक दशा का बहुत कुछ पता चल जाता है। जहाँ तहाँ जनसाधारण के जीवन के मनोरम दृश्यों ने फाहियान के ध्यान को आकर्षित किया। इस देश के लोगों की समृद्धि और उन के सुखशांतिमय जीवन को देख कर वह उन्हें अंकित किए बिना न रह सका। भारत की कई बातों ने चीन की अपेक्षाकृत अवनत और दुःखपूर्ण दशा के विरोध में खड़ी हो कर उस के हृदय में स्थान कर लिया। इस कारण उस के ग्रंथ में कितनी ही जगह ऐसे वर्णन आ गए हैं

जिन को पढ़ कर उस समय का जीता जागता चित्र हमारे सामने खिंच जाता है। उस से पता चलता है कि उस समय इस देश की प्रजा धन-धान्य से संतुष्ट हो कर सुख शांति पूर्वक जीवन व्यतीत करती थी। उस के यात्रा-वृत्तांत से यह भी पता चलता है कि चंद्रगुप्त की शासन-व्यवस्था न्याययुक्त और दृढ़ थी, क्योंकि न्याययुक्त और दृढ़ शासन के विना देश में धन-धान्य और सुख-शांति हो नहीं सकती।

मथुरा और उस से दक्षिण का देश फाहियान को विशेष हरा भरा मिला। उस समय यह देश मध्यदेश कहलाता था। वहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य उस को वहुत पसंद आया, जलवायु भी वहुत अच्छा था—न वहुत ठंडा और न वहुत गरम। फाहियान को यहीं यह मालूम हुआ कि भारतवासियों को अपने परिवार के लोगों के नाम सरकार में दर्ज नहीं कराने पड़ते। लोग जहाँ चाहते हैं विना सरकारी आज्ञा-पत्र के आ-जा सकते थे। "लोग राजा की भूमि जोतते हैं और लगान के रूप में उपज का कुछ अंश राजा को देते हैं। और जव चाहते हैं तव उस की भूमि को छोड़ देते हैं और जहाँ मन में आता है जा कर रहते हैं। राजा न प्राण दंड देता है और न शारीरिक दंड। अपराध के गौरव और लाघव के अनुसार हलका या भारी दंड दिया जाता था जो विशेष कर जुर्माने के रूप में ही होता था। वार वार राजद्रोह करने पर कहीं अपराधी का दाहिना हाथ काटा जाता था। राजा के पारिवारिक और राजकीय दोनों प्रकार के कर्मचारियों को नियत वेतन मिलता था। देश भर में नीच चांडालों के सिवाय और कोई न तो जीव-हिंसा करता है, न मदिरा पीता है और न लहसुन-प्याज़ खाता है। चांडाल शहर से वाहर रहते हैं और जव वे नगर में आते हैं तो दो लकड़ियाँ वजाते हुए चलते हैं जिस से लोगों को उन के आने की सूचना हो जाय और वे उन की छूत से वच कर चलें। वहाँ कोई सूअर और मुर्गी नहीं पालते हैं, वूचड़खाने और शराव की भट्टियाँ कहीं नहीं हैं। जीवित पशु भी नहीं वेचे जाते हैं। मछली मारने और मृगों

का आखेट करने का काम नीच जाति के व्याधों का ही है और वही मांस भी बेचते हैं। बाज़ारों में मोल तोल कौड़ियों में ही होता है।"

बुद्ध भगवान के निर्वाण प्राप्त करने के समय से ही सारे देश में राजाओं और धनियों ने और साधारण गृहस्थों ने भिक्षुओं के रहने के लिये विहार बनाए हैं और उन के भरण-पोषण के लिये खेत, घर, बगीचे, परिचारक और पशु दान किए हैं। दान-पत्र ताम्र-पत्रों पर लिखे गए हैं। इन दान-पत्रों को पीढ़ी दर पीढ़ी सब राजा लोग मानते आए हैं। किसी ने उन के प्रतिकूल कोई काम नहीं किया। विहारों में संघ के भिक्षुओं को खान-पान और पहनने के वस्त्र और ओढ़ना बिछौना मिलता है। विहारों में रहने वाले भिक्षु करुणा के कृत्य, सूत्र-पाठ और ध्यान में लगे रहते हैं। विहारों में आए गए को वर्षा में आश्रय मिलता है। अतिथि-सत्कार का ध्यान रखा जाता है। वृद्ध भिक्षु अतिथि का स्वागत करते हैं। उस के कपड़े और कमंडल उस के हाथ से ले लेते हैं और स्वयं उस के लिये नियत स्थान तक ले जाते हैं। उसे पाँव धोने को जल और सिर पर लगाने को तेल दिया जाता है और भोजन बनाया जाता है। विश्राम कर लेने पर उस से पूछते हैं कि कितने समय से प्रव्रज्या (संन्यास) ग्रहण की है और उस की योग्यता और पद के अनुसार उसे कमरा और ओढ़ना बिछौना दिया जाता है। वर्षा के एक महीने बाद उपासक लोग दान देने में एक दूसरे से बढ़ने का यत्न करते हैं। चारों ओर से लोग भिक्षुओं को पेय भेजते हैं। संघ के संघ भिक्षु आ कर धर्मोपदेश किया करते हैं। ब्राह्मण और धनी लोग वस्त्र और अन्य आवश्यक सामग्री भी बाँटते हैं। भिक्षु उन्हें आपस में बाँट लेते हैं। बुद्ध देव के बोध लाभ करने के समय से ही यह रीति और आचार-व्यवहार के नियम बराबर चले आ रहे हैं और पालन किए जाते हैं।"

कान्यकुब्ज[1], श्रावस्ती[2] आदि जनपदों और नगरों को पार करते हुए फाहियान पाटलिपुत्र पहुँचा। पाटलिपुत्र उस समय मगध की

---

[1] कान्यकुब्ज=कन्नौज। [2] श्रावस्ती=साहेत माहेत।

राजधानी थी। आजकल यह नगर पटना के नाम से प्रसिद्ध है और अब भी विहार की राजधानी है। फाहियान ने इस नगर को अपने पूरे ऐश्वर्य में देखा था। अशोक के समय की बनी इमारतें अभी खड़ी थीं। उस के बनवाये हुए महल को देख कर वह चकित रह गया। वह इतने भारी भारी पत्थरों से बना था और उस पर ऐसे सुंदर सुंदर बेल बूटे खुदे हुए थे कि उस के मन में यह बात न समाई कि यह मनुष्यों का काम है। इतने भारी पत्थरों को मनुष्य कैसे उठा सकता है! यह सफ़ाई मनुष्य के हाथ की नहीं हो सकती! उसे वह मायावी राक्षसों का शिल्प-कौशल मालूम हुआ। अशोक के बनवाये हुए मंडप भी वास्तुकला के सुंदर नमूने थे। महायान और हीनयान पंथियों के लिये अलग अलग दो विहार थे। इन दोनों में कुल मिला कर छः सात सौ भिक्षु रहते थे। उन के पांडित्य की ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी, उन के व्याख्यानों को सुनने के लिये लोग देश-देशांतरों से आते थे। फाहियान ने तीन वर्ष तक यहीं रह कर संस्कृत सीखी। फाहियान को भारत में आने की विशेष प्रेरणा इसलिये हुई थी कि चीन में विनयपिटक की संपूर्ण प्रति नहीं मिलती थी। जिसे वह भारत के प्रसिद्ध विद्यापीठों में खोज कर पढ़ना चाहता था। भारत में भी उसे कहीं अब तक यह पूरा ग्रंथ नहीं मिला था। पाटलिपुत्र में उस की वह अभिलाषा पूर्ण हुई और उसे वह अलभ्य ग्रंथ अखंडित रूप में प्राप्त हुआ।

पाटलिपुत्र का वर्णन

फाहियान का कथन है कि भारतवासी उस समय बड़े धर्मनिष्ठ और दयावान थे। जिन लोगों को परमात्मा ने धन और वैभव दिया था उन के हृदय में करुणा और उदारता भी भर दी थी वे केवल स्वार्थ ही के लिये अपनी संपत्ति का उपयोग नहीं करते थे, परोपकार में भी साधारणतया उस का कुछ भाग लगाया करते थे। देश में धर्मार्थ संस्थाएँ बहुत थीं, जगह जगह अन्नसत्र खुले हुए थे। मार्गों पर यात्रियों के रहने के लिये

धर्मशालाएँ बनी हुई थीं। राजधानी में एक धर्मार्थ औपधालय भी खुला हुआ था जिस में असहाय-अनाथ तथा दीन-दुखिया रोगियों की मुफ़् चिकित्सा की जाती थी। सब रोगों के रोगी इस अस्पताल में लिए जाते थे। उन को देख भाल के लिये सदा वहाँ एक वैद्य रहता था। उन की दशा के अनुकूल पथ्य भी उन्हें औषधालय ही से मिलता था। पूरा आराम होने तक वे वहाँ रह सकते थे। इस औपधालय के व्यय का सारा भार नगर के कुछ दानशील धनाढ्य पुरुषों ने अपने ऊपर ले रक्खा था। इतिहासकार विंसेंट स्मिथ का कथन है कि "उस समय संसार भर में और कहीं भी ऐसा अच्छा सार्वजनिक औषधालय बना हो इस में संदेह है। अशोक की मृत्यु के सदियों बाद भी उस के उपदेशों का इस प्रकार शुभ फल फलते रहना उस की दूरदर्शिता की अपने आप प्रशंसा कर रहा है।"

पाटलिपुत्र में भी फाहियान ने रथयात्रा देखी। यहाँ के रथ उतने ऊँचे नहीं थे जितना खुतान का रथ था। पर बीस रथ होते थे। इस से दृश्य और भी रमणीक लगता होगा। रथयात्रा प्रतिवर्ष दूसरे मास की आठवीं तिथि को होती थी। अन्य जनपदों में भी यह उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया जाता था।

मध्यदेश में पाटलिपुत्र ही सब से बड़ा नगर था। इधर कई शताब्दियों से प्रायः सारा उत्तर भारत एक ही साम्राज्य के अंतर्गत हो रहा था और उस का शासन मगध ही से होता था। इस से पश्चिम में नगर छोटे छोटे थे। मगध के नगर अपेक्षाकृत बड़े थे।

शासन-व्यवस्था

फाहियान ने अपने ग्रंथ में जो कुछ भारतीय शासन के संबंध में लिखा है उस से स्पष्ट मालूम होता है कि राजा सर्वप्रिय था और शांतिमय उपायों से काम लेता था। प्रजा पर कोई कठोर अंकुश नहीं था। राज्य की ओर से प्रजा के कामों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा डाले बिना लोग जो चाहते थे कर सकते थे। सारा

मध्यदेश कई जनपदों में विभक्त था। जनपदों के अधिपति भी दयालु थे और शासन करने में अपने सम्राट् का अनुकरण करते थे। प्रजा भी नागरिकों के उच्च आदर्श को जानती थी और उस के अनुसार व्यवहार करती थी। फाहियान ने उन्हें सद्गुणों में परस्पर स्पर्धा सा करते देखा। अतएव अपराध बहुत कम होते थे। हज़ारों मील के लंबे सफ़र में फाहियान को कोई डाकू या ठग नहीं मिले। इसलिये राज-नियम भी कड़े न थे। राष्ट्र में मृत्यु-दंड का अभाव और शारीरिक दंड की न्यूनता यह प्रमाणित करती है कि राजसत्ता के लिये लोगों के हृदय में अत्यंत ऊँचा स्थान था। साधारणतः जुर्माना ही काफ़ी समझा जाता था। राजद्रोह सरीखे घोर अपराध के लिये कभी कभी हाथ काटने का दंड दिया जाता था। पदाधिकारियों के नियत वेतन-भोगी होने से उन को प्रजा पर अत्याचार करने का अवसर नहीं था। उदार और चतुर शासक के शासन में प्रजा सब प्रकार से सुखी थी। देश की संपत्ति अपार थी। चाँदी सोने की कमी न थी। पर खाने पीने के पदार्थ और अन्य नित्य के व्यवहार की चीजें इतनी सस्ती थीं कि कौड़ियों से ही काम चल जाता था। फ़ाहियान ने भारतवासियों को अत्यंत सुख और समृद्धि में पाया और उन के भाग्य की सराहना की। ऐसा सुखशांतिमय शासन उस के देश-वासियों को प्राप्त न था यह बात उसे भारत में रह रह कर याद आती थी।

चंद्रगुप्त के राज्यकाल में प्रजा को सब प्रकार से धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। अपने अपने धर्म के अनुसार चलने में सब स्वतंत्र थे। यद्यपि बौद्ध-धर्म राजधर्म न रहा था फिर भी देश भर में उस का प्रचार था। फाहियान ने सैकड़ों बौद्ध-विहार देखे और हज़ारों श्रमणों के दर्शन किए। देश भर में महात्मा बुद्ध के प्रचार किए हुए करुणा और अहिंसा के धर्मों का पालन होता था। बौद्ध सिद्धांतों का ऊँची जातियों के जीवन पर पूरा प्रभाव था। हाँ, नीची जातियों में भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं था और वे जीवहिंसा करते थे। जाति-पाँति और छूआछूत के भेदभाव को

बौद्ध-धर्म का चिरकालिक प्रचार भी न मिटा सका था। इस समय ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय और बौद्ध धर्म का ह्रास आरंभ हो गया था। पर वह इतनी मंदगति से हो रहा था कि इस चीनी यात्री को उस ह्रास के कोई लक्षण न देख पड़े। दानशील धनिकों की संरक्षता भिक्षुओं को अब तक प्राप्त थी। उन को अपने धार्मिक कृत्यों को करने के सब साधन प्रस्तुत थे और नित्य की आवश्यकताओं की पूर्ति की सब सामग्री मुफ़्त मिलती थी। पर बुद्ध का जन्मस्थान कपिलवस्तु और निर्वाण-स्थान कुशीनगर निर्जन हो गए थे। वहाँ थोड़े से भिक्षु रहते थे। बोधगया की जन संख्या भी बहुत कम थी। यह बौद्धों का एक प्रधान तीर्थ था। यहीं एक पीपल के वृक्ष के नीचे गौतम को बोध हुआ था। जब फाहियान दर्शन के लिये वहाँ गया था तब यह तीर्थ चारों ओर से बीहड़ जंगल से घिर गया था। हो सकता है कि इन नगरों की इस दुर्दशा के कोई और भी कारण हों जिन का धार्मिक ह्रास से कोई संबंध न हो, पर वे ज्ञात नहीं हैं। हिंदूधर्म इस समय उन्नति के मार्ग पर अग्रसर था। सम्राट् 'परम भागवत' वैष्णव था, पर वह किसी प्रकार का धार्मिक पक्षपात नहीं करता था।

समग्र विनयपिटक के मिल जाने से फाहियान का उद्देश्य पूर्ण हो गया था। उस का एकमात्र अवशिष्ट साथी तावचिंग यहाँ के संघ के उत्कृष्ट आचार-व्यवहार और बात बात में उन के विनय के अनुसरण को देख कर बहुत प्रसन्न हुआ। इस के सामने उसे चीन देश का अपूर्ण विनय हेय लगने लगा। उस ने इस बात की शपथ कर ली कि जब तक मैं बुद्ध न हो जाऊँ तब तक चीन की भूमि में जन्म न लूँ। पर फाहियान का तो उद्देश्य था अपने देश में जाकर संपूर्ण विनय का प्रचार करना। इसलिये वह अकेला ही लौट चला। अंगदेश की राजधानी चंपा में हो कर वह ताम्रलिप्ति पहुँचा। ताम्रलिप्ति आजकल का तमलुक है जो बंगाल के मेदिनीपुर जिले में है। वहाँ वह दो वर्ष रहा। इस समय में उस ने कई धर्म-ग्रंथों की नकल की। और कुछ मूर्तियों के चित्र बनाए। तमलुक में फाहियान ने बौद्ध धर्म का ख़ूब प्रचार पाया। वहाँ चौबीस संघाराम थे।

वहाँ से वह एक जहाज़ पर बैठ कर १४ दिन में सिंहल पहुँचा। सिंहल में वह दो वर्ष रहा। यहाँ के लोगों में सफ़ाई का बहुत विचार था। राजा ब्राह्मणों की तरह शुद्ध आचार वाला था। हर महीने अष्टमी चतुर्दशी और पूर्णिमा तथा अमावस को विशेष प्रकार से धर्म-चर्चा होती थी जिस में गृही और यती सब भाग लेते थे। हज़ारों भिक्षुओं को संघाराम से भोजन मिलता था। राजा का सत्र अलग था। राजधानी के उत्तर में एक बड़ा ऊँचा विहार था जिसे चैत्य कहते थे। यहाँ लगभग दो हज़ार भिक्षु रहते थे।

इस समय फ़ाहियान के हृदय में स्वदेश लौटने की इच्छा बहुत बलवती हो गई। एक दिन उस ने चीनी व्यापारी को पंखा बेचते देखा तो वह रो पड़ा। आख़िर उसे चीन जाने वाला एक जहाज़ मिल गया। इस में सौ यात्री थे। मार्ग में तूफ़ान आया और जहाज़ की पेंदी पर छेद हो गया और उस के अंदर पानी भरने लगा। जहाज़ को हलका करने के लिये बहुत सा सामान समुद्र में डाल दिया गया। फ़ाहियान ने भी अपने वर्तन समुद्र में फेंक दिए। भाग्यवश एक छोटा टापू मिल गया। वहाँ जहाज़ की मरम्मत की गई और वहाँ से वह सकुशल जावा पहुँच गया। जावा में उस समय ब्राह्मण धर्म का प्रचार था। बौद्ध-धर्म की वहाँ उसे कोई चर्चा न सुनाई दी। पाँचवें महीने फ़ाहियान वहाँ से एक और दूसरे जहाज़ पर चढ़ा। मार्ग में इस जहाज़ पर भी विपत्ति आई। आँधी और वर्षा से यात्री व्याकुल हो उठे। पुरोहित ने विचार करके कहा कि इस श्रमण को साथ लेने के कारण हमें इस विपत्ति का सामना करना पड़ रहा है। इस को कहीं किसी द्वीप में उतार देना चाहिए। यात्री लोग अवश्य ऐसा कर देते परंतु एक दयालु यात्री के हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा और उस ने इस बात का घोर विरोध किया और कहा कि पहले मुझे मार डालो तब इसे उतारो, नहीं तो मैं देश में पहुँच कर अवश्य बौद्ध राजा के पास इस बात की शिकायत करूँगा। डर के मारे यात्रियों ने फ़ाहियान को उतारने का विचार छोड़ दिया। अंत में कई दिन के बाद जहाज़ चीन देश की भूमि पर जा लगा और सब ने परमात्मा को धन्यवाद दिया।

छठा अध्याय

गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था

गुप्त सम्राटों के शिला-लेखों और चीनी यात्री फाहियान के यात्रा-विवरण से चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और अन्य गुप्त-नरेशों की शासन-पद्धति का बहुत कुछ पता लगता है। यद्यपि चीनी यात्री ने तत्कालीन शासन-व्यवस्था के संबंध में बहुत सी जानने योग्य बातें नहीं लिखीं तथापि गुप्त-साम्राज्य के शासन-प्रबंध का जो चित्र उस ने खींचा है वह अत्यंत हृदयग्राही है। राज्य की सुव्यवस्था के कारण प्रजा सुखी और धनधान्य-संपन्न थी। सर्वत्र पूर्ण शांति का राज्य था। मार्ग सुरक्षित थे। प्रजा के योगक्षेम के प्रचुर साधन मौजूद थे। प्रजा के जीवन में राजा की ओर से अधिक हस्तक्षेप न होता था। आने जाने में लोगों को किसी प्रकार की रोक टोक नहीं थी। अपनी जायदाद और माल का ब्यौरा उन्हें सरकार में न लिखाना पड़ता था और न सरकारी अफ़सरों की हाज़िरी देनी पड़ती थी। लोग राजा की भूमि जोतते थे और उस की उपज का कुछ अंश उसे कर रूप से दे देते थे। वे अपनी इच्छानुसार आ जा सकते थे।

फाँसी अथवा अन्य शारीरिक दंड नहीं दिए जाते थे। अपराधी को उस के अपराध के गौरव-लाघव के अनुसार केवल अर्थ-दंड दिया जाता था। हाँ, यदि कोई बार बार चोरी वा उपद्रव करता था तो उस का दाहिना हाथ काट लिया जाता था। राजा के सेवक नियत वेतन पाते थे। सारे देश में सिवाय चांडालों के न तो कोई जीव-हिंसा ही करता था, न मद्य ही पीता था, और न लहसुन प्याज ही खाता था। राजा

और प्रजा का सार्वजनिक हित के कार्यों की तरफ़ भी बहुत ध्यान रहता था। धार्मिक सत्रों में निर्धनों को अन्नवस्त्र मिलता था और सार्वजनिक औषधालयों में गरीब रोगियों की मुफ़्त चिकित्सा की जाती थी। राज्य में अनेक खेत, घर, बगीचे भिक्षुओं को दिये हुए थे और उनका वृत्तांत ताम्र-पत्रों पर खुदा हुआ था। वे प्राचीन राजाओं के समय से चले आते थे और उस समय तक किसी ने उन में हस्तक्षेप नहीं किया था। नगरों में वैश्यों के स्थापित किए अन्नसत्र और औषधालय थे। दान करने में, दया करने में, धर्म करने में, लोग परस्पर में स्पर्धा रखते थे।

चीनी यात्री फ़ाहियान के पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट प्रकट है कि गुप्त-सम्राट् की छत्रछाया में देश में 'राम-राज्य' की सी सुख-शांति विराजती थी और उस समय राज-धर्म का हिंदू आदर्श पूर्ण रूप से चरितार्थ हो रहा था।[1] फाहियान ने गुप्त-साम्राज्य की राजनीतिक और सामाजिक दशा का जो चित्र अंकित किया है उस की यथार्थता का प्रमाण गुप्त-कालीन सिक्कों और शिला-लेखों से मिलता है। ईसा की पाँचवीं सदी के प्रारंभ में चीनी यात्रो फ़ाहियान चंद्रगुप्त द्वितोय के साम्राज्य के प्रायः सभी मुख्य

---

[1] कालिदास ने 'अभिज्ञान-शाकुंतल' में राजा की प्रजावत्सलता को दिखलाया है। एक धनाढ्य किंतु संतान-हीन व्यापारी नाव के डूब जाने से समुद्र में डूब मरा। अमात्य ने इस दुर्घटना का हाल राजा के पास लिख भेजा। नियमानुसार उस व्यापारी की संपत्ति राजकोष में आनी चाहिए, किंतु राजा इस घटना का उचित अन्वेषण कराकर उसकी एक गर्भवती स्त्री को उस धन की स्वामिनी बना देता है। इस के बाद राज्य में यह घोषणा की जाती है कि राजा दुष्यंत प्रजा के दुःख में साथ देने के लिये सर्वदा तत्पर है :—

'येन येन वियुज्यंते प्रजाः स्निग्धेन बंधुना।
स स पापादृते तासां दुष्यंत इति घुष्यताम्' ॥

अभिज्ञान शाकुंतल, अंक ६।

मुख्य प्रांतों और नगरों में भ्रमण करता हुआ पहुँचा था, किंतु आश्चर्य की बात है कि इतनी लंबी चौड़ी यात्रा में उसे किसी तरह की बाधा का सामना न करना पड़ा, हजारों मील के सफ़र में उसे कहीं भी ठग, चोर वा डाकू नहीं मिले। उस समय इस देश का शासन दृढ़ और सुगठित था। नियम और शांति का सर्वथा आधिपत्य था। इस समय प्रायः सारा भारतवर्ष राजनीतिक एकता के सूत्र में ओतप्रोत हो चुका था। शस्त्र से रक्षित राष्ट्र में शास्त्र-चिंता होने लगी थी। प्रजा विभव-संपन्न थी। राज्य की सुव्यवस्था के कारण भारत का व्यापार और उद्योग-धंधे इस समय उन्नत दशा में थे। देश के आंतरिक और वैदेशिक व्यापार की वृद्धि के कारण द्वितीय सम्राट् चंद्रगुप्त को भिन्न भिन्न प्रकार के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के ढलवाने पड़े थे। उसके सिक्कों के प्रचुर प्रचार से यह मालूम होता है कि देश के व्यापार की बहुत अच्छी दशा थी, राजकोष धन से परिपूर्ण था और प्रजा लक्ष्मी के उपार्जन में संलग्न थी। यह सब गुप्त-सम्राट् के सुशासन का परिणाम था। मालवा, गुजरात और सुराष्ट्र की विजय के पश्चात् द्वितीय चंद्रगुप्त ने शकजातीय क्षत्रपों के ढंग पर बने हुए चाँदी के सिक्के चलाये थे। इन में राजा का मुख, यूनानी अक्षरों के चिह्न और वर्ष, और दूसरी ओर गरुड़ की मूर्ति और ब्राह्मी लिपि मिलती है। कदाचित्, भारत के पश्चिमी प्रांतों की प्रजा को पूर्वकाल से प्रचलित चाँदी के सिक्के ही ग्राह्य थे। गुप्त-साम्राज्य के अन्य प्रांतों में सोने और ताँबे के सिक्के प्रचलित थे। गुप्त सम्राटों की सुवर्ण-मुद्रा, पहले कुशान राजाओं के सोने के सिक्कों के ढंग पर, रोम देश की तोल की रीति के अनुसार बनते थे। तदनंतर रोम की तोल की रीति के बदले में प्राचीन भारत की तोल की रीति का अवलंबन होने लगा था। रोम की तोल की रीति के अनुसार बने हुए सोने के सिक्के १२४ ग्रेन और भारतीय तोल की रीति के अनुसार १४६ ग्रेन के थे। द्वितीय चंद्रगुप्त और प्रथम कुमारगुप्त के दोनों प्रकार की तोल की रीति के अनुसार बने हुए सोने के सिक्के मिले हैं। वे क्रम से 'दीनार' और 'सुवर्ण' कहलाते थे। इस समय के शिला-

लेखों में कई स्थलों पर दीनारों के दान किये जाने का उल्ले
से यह निर्विवाद सिद्ध है कि रोम-साम्राज्य की सुवर्ण-मुद्रा (
भारत में इस समय ख़ूब प्रचार था और वह प्रजा को ग्राह
एव, गुप्त सम्राटों को उस का अनुकरण करना पड़ा था। प
के व्यापारियों ने भारतीय वस्तुओं के बदले में रोम की सु
इस देश को आप्लावित कर दिया होगा। इस देश के विभव
का प्रमाण हमें द्वितीय चंद्रगुप्त के चलाये हुए बहुसंख्यक अ
प्रकार के सिक्कों से मिलता है। गुप्त सम्राटों के संस्कृत-विरुद
सोने के सिक्कों का सौंदर्य और वैचित्र्य दर्शनीय है। कहीं रा
प्रतिकृति अंकित है, कहीं अश्वमेध का घोड़ा मुद्रित है, कि
शिकार खेलती हुई राजमूर्ति है, तो किसी पर वीणा बजाती
मुद्राओं के आकार-प्रकार और उन के सुवर्ण की शुद्धता आ
मुद्राशास्त्रज्ञ अनुमान करते हैं कि गुप्त-साम्राज्य में सुशासन
प्रजा में सुख, शांति और समृद्धि का दौरदौरा था।

राजा सर्वदा राज-काज की बागडोर अपने हाथों में रखता
और अमात्यों के ऊपर ही सारा भार नहीं छोड़ देता था। य

राजा तथा अमात्य

राजा राज-काज का संचालन स्वयं किया क
उस समय सैनिक या नागरिक, कार्यकारक
विभाग आज-कल की तरह अलग अलग नहीं
ही पदाधिकारी एक से अधिक विभागों का काम कर सकता था
कारी बहुधा एक ही कुलों से चुने जाते थे। और कभी कभी प
गत भी हो जाते थे। इससे यह लाभ होता था कि उन वंशों
राज्य के उत्थान-पतन के साथ बँध जाता था जिससे वे राज्य
के लिए सदा यत्न में लगे रहते थे। महाभारत में इस प्रकार
कारियों और मंत्रियों को सब से उत्तम बताया है। महाभारत के

कारियों को चुनने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी और गुप्तों के समय में भी उसका अनुसरण किया जाता था।

सेना का सब से बड़ा पदाधिकारी महासेनापति था। उस से छोटा अफ़सर सेनापति कहलाता था। इन्हीं के समान महाबलाधिकृत और बलाधिकृत या महाबलाध्यक्ष और बलाध्यक्ष भी सेना के दो बड़े अफ़सर थे। शायद सेनापति स्वयं लड़ाई में भाग लेते होंगे और बलाध्यक्ष का काम सैनिकों को भरती करने से अधिक संबंध रखता होगा। घुड़सवारों का प्रधान नायक 'भटाश्वपति' कहलाता था और हाथियों का सेनानायक 'कटुक'। युद्ध-सामग्री जिस अफ़सर के अधिकार में रहती थी उस की उपाधि 'रणभांडागाराधिकरण' थी। संभवतः, सेना के आय-व्यय का हिसाब भी इसी अफ़सर के अधीन रहता था। सेना की एक टुकड़ी के नायक को 'चमूप' कहते थे।

सेना

राज्य की अंतर्राष्ट्रीय नीति का निर्धारण 'महासंधि-विग्रहिक' करता था। किस देश से मित्रता करनी चाहिए और किस देश से युद्ध करना चाहिए, यह सलाह राजा को वही देता था। संधिविग्रहिक उस का एक अधीन कर्मचारी था।

अंतर्राष्ट्रीय मंत्री

'दंडनायक', 'महादंडनायक', 'सर्वदंडनायक' और 'महासर्वदंडनायक' न्याय विभाग के भिन्न भिन्न पदाधिकारियों की उपाधियाँ थीं। संभवतः महासर्वदंडनायक सब से बड़ी अदालत के न्यायकर्ता रहे हों और दूसरे छोटी छोटी अदालतों के जज रहे हों। यह भी असंभव नहीं कि राजा भी स्वयं न्यायकर्ता का आसन ग्रहण करता रहा हो। 'दंडपाशाधिकरण' पुलिस के सब से बड़े अफ़सर को कहते थे। पुलिस के और कई कर्मचारी होते थे। 'दंडपाशिक' पुलिस का साधारण सिपाही होता था जो सामान्यतया शांति और नियम की रक्षा करता था। जहाँ कहीं चोरी हो जाती थी वहाँ जा कर तहक़ीक़ात (जाँच) कर के चोर को पकड़ने का काम

न्याय और अपराध

'चौरोद्धरणिक' का होता था। न्यायालय की आज्ञानुसार शारीरिक दंड देने वाला 'दंडिक' कहलाता था। 'चाट' और 'भाट' भी पुलिस के कर्मचारी होते थे और अपराधों की जाँच करते थे। मालूम होता है कि आगे चल कर चाट अपने कर्तव्य से च्युत हो गये जिससे वे जनता को बहुत अप्रिय हो गये। 'चाट' का अर्थ ही चोर हो गया। भूमिदान संबंधी कई शासन-पत्रों में लिखा मिलता है कि इस भूमि में 'चाट' और 'भाट' प्रवेश न करने पावेंगे। इससे पता चलता है कि वे कितने अप्रिय हो गए थे। 'दूत' शायद खुफ़िया पुलिस का काम करता था। राजा की आज्ञा को अफ़सरों और जनसाधारण को सुनाने वाला 'आज्ञापक' कहलाता था। कभी कभी दूत ही आज्ञापक का भी काम करता था।

महल

राज-महलों में 'प्रतिहार' और 'महाप्रतिहार' होते थे। ये महलों की रक्षा किया करते थे। जब कोई राजा का दर्शन करने आता था तब वे ही राजा की आज्ञा ले कर उसे राजसभा में उपस्थित करते थे। कहीं कहीं वे 'विनयशूर' भी कहे जाते थे। राजा की विरुदावली वर्णन करने वाला चारण 'प्रतिनर्तक' कहलाता था।

प्रादेशिक विभाग

गुप्त-कालीन शिला-लेखों से मालूम होता है कि शासन की सुविधा के लिये गुप्त-साम्राज्य कई छोटे बड़े प्रांतों में विभक्त था जिन्हें 'देश' वा 'भुक्ति' कहते थे। एक 'भुक्ति' के अंतर्गत कई 'विषय' वा 'प्रदेश' होते थे और विषयों के अंतर्गत 'ग्राम'। भुक्ति के शासक को 'भोगिक' या 'भोगपति' कहते थे। राजा का स्थानापन्न होने के कारण वह 'राजस्थानीय' भी कहलाता था। कभी कभी वह 'गोप्ता' या 'उपरिक महाराज' भी कहलाता था। इस पद पर विशेष कर राजकुमार नियुक्त किए जाते थे। दामोदरपुर (जिला दीनाजपुर, बंगाल) से मिले हुए ताम्रपत्र में[1] 'पुंड्रवर्धन भुक्ति' (उत्तरी

---

[1] एपि० इं० जिल्द १५, पृ० १३४—१४१।

बंगाल) के शासक का 'उपरिक महाराज राजपुत्रदेव भट्टारक' उपाधि से संबोधित किया गया है। बसाढ़ (वैशाली) की मुहरों (Seals)[1] में तीरभुक्ति (तिरहुत) के शासक राजकुमार गोविंदगुप्त का उल्लेख है। विषय-पतियों को भोगपति ही नियुक्त करते थे। विषय-पति का शासन-केंद्र नगर में होता था जो 'अधिष्ठान' कहलाता था। उसका कार्यालय 'अधिकरण' कहलाता था। अधिकरण में कई कायस्थ (लेखक) होते थे जिन में मुख्य 'प्रथम कायस्थ' कहलाता था। विषयपति को प्रबंधसंबंधी सलाह देने के लिये एक समिति होती थी। इस में एक 'नगर-श्रेष्ठी' (नगर का बड़ा सेठ), एक 'सार्थवाह' (बड़ा व्यापारी), एक 'प्रथम कुलिक' और एक 'प्रथम कायस्थ' (चीफ़ सेक्रेटरी) रहता था। प्रांतों और विषयों के शासकों को दूसरे बड़े बड़े कर्मचारियों से सहायता मिलती थी।

ग्राम का शासन 'ग्रामिक' के हाथ में होता था। पहले पहल ग्रामिक की नियुक्ति कैसे हुई होगी यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। राज्य की ओर से ग्राम के प्रबंध में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। भारतवर्ष में ग्राम-संस्था का अत्यंत प्राचीन काल से प्रचार था।[2] राजनीतिक विप्लवों और परिवर्तनों का ग्राम-संस्था पर कोई प्रभाव न पड़ता था। ग्रामिक गाँव के बड़े बूढ़ों से प्रबंध विषयक सलाह लिया करता होगा। इस समय के दान-पत्रों में 'ग्राम-महत्तरों' का उल्लेख मिलता है, जो ग्राम के प्रबंध में भाग लिया करते थे।

ग्राम पंचायत

---

[1] आ० स० रिपोर्ट—१९०३–४।

[2] साँची के ई० स० ४१२ के शिलालेख में द्वितीय चंद्रगुप्त के सेनापति आम्रकार्दव के गाँव की पंचायत के सामने एक गाँव और २५ दीनारों के दान का वर्णन है। * गाँव के आय-व्यय का हिसाब 'तलवाटक' के पास रहता था।

*"पञ्चमंडल्यान् प्रणिपत्य ददाति पंच विंशतीश्च दीनारान्"।

—फ्लीट, गु० शि० ५।

नगर का प्राधन शासक 'द्रांगिक' कहलाता था। उसे भोगपति या प्रांतीय शासक नियुक्त करता था। नगर के व्यवसायियों और व्यापारियों से कर वसूल करने का काम भी 'द्रांगिक' का ही था।

नगर

राज्य की आय का सब से प्रधान साधन लगान था। लगान के रूप में कृषक लोग उपज का कुछ भाग राजा को दिया करते थे।[1] इस कर को उद्रंग कहते थे। आजकल के सेस की तरह उद्रंग के बाद एक 'उपरिकर' भी लगता था। संभवतः यह उपरिकर उन कृषकों को देना पड़ता हो जिनका भूमि पर अपना स्वत्व नहीं था जैसा कि फ्लीट साहब ने अनुमान किया है। भूमि नापी जाती थी और जमींदारों का नियमानुसार लेख रखा जाता था। प्रत्येक जमींदार की भूमि की सीमा निर्धारित की जाती थी और सरकारी लेखों में उस का पूरा विवरण दिया जाता था। भूमि को नापने वालों को 'प्रमातृ' और सीमा निर्धारित करने वालों को 'सीमा-प्रदातृ' कहते थे। लगान नियत करने के लिये कुछ निश्चित नियम बने हुए थे जो 'भूमिछिद्रन्याय' के नाम से प्रचलित थे। भूमि छिद्र का अर्थ काश्त करने योग्य भूमि माना गया है। भूमि की उपज-शक्ति की कमी बेशी के अनुसार ही लगान भी कम या ज़्यादे लगता था। भूमि और लगान संबंधी झगड़ों का निपटारा करने के लिये एक अलग पदाधिकारी होता था जिस को 'न्यायाधिकरण' कहते थे। लगान और कृषि संबंधी निरीक्षण करने वाले अफ़सर 'ध्रुवाधिकरण' कहलाते थे। लगान आदि से संबंध रखने वाले सब लेखों को सुरक्षित रखने के लिये कई कर्मचारी नियत थे। 'पुस्तपाल,' 'अक्षपटलिक' और 'करणिक' कुछ इसी संबंध

लगान और कृषि-विभाग

---

[1] राजा भूमि की उपज का छठा हिस्सा कर रूप से लेता था। इसलिये उसे 'षष्ठांशवृत्ति' कहा जाता था।

के अफ़सर थे। आज कल की भाषा में 'करणिक' रजिस्ट्रार, 'अक्षपटलिक', रेकर्ड कीपर और पुस्तपाल उससे बड़ा अफ़सर रहा होगा। पर संभवतः इन को और प्रकार के राजकीय लेख भी रखने पड़ते थे। केवल लगान और कृषि से ही इन का संबंध न रहा होगा। उस ज़माने में भी ज़मीनों के नकशे बनाये जाते थे। नकशा खींचने वाले 'कर्तृ' या 'शासयितृ' कहाते थे।

अन्य राज्यकर

लगान के अलावा और भी कई प्रकार के करों से राज्य की आय होती थी। गोचर भूमि, चमड़ों, कोयला, भाँति भाँति की खानों और नशीली चीज़ों पर भी कर लगता था। बेगार की प्रथा प्रचलित थी और 'विष्टिक' कहलाती थी। अर्थदंड से भी राज्य की काफ़ी आमदनी होती थी। चुंगी की भी प्रथा थी। चुंगी का विभाग 'शौल्किक' के अधीन था। जंगलों का प्रबंध 'गौल्मिक' के अधिकार में था। जंगलों से भी अच्छी आमदनी होती थी। इन के अतिरिक्त अधीन राजा-महाराजाओं और सामंत आदिकों से जो कर मिलता था उस से भी राजकोष की अच्छी पूर्ति होती थी। राज्यकोष का प्रबंध-भार भांडागाराधिकृतों के ऊपर रहता था। इन विषयों में सामंतगण भी अपने राज्यों के शासन में प्रायः सम्राट् के राज्य-शासन के आदर्श का ही अनुसरण करते थे।

प्रांतीय शासन

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की प्रांतीय शासनविधि का हमें प्राचीन वैशाली (बसाढ़, जिला मुज़फ़्फ़रपुर, बिहार) से मिली हुई बहुत सी मिट्टी की मुहरों से पता चलता है। इन में एक मुहर 'महादेवी श्रीध्रुवस्वामिनी' की भी है। इस पर लिखा है—"महाराजाधिराजश्रीचंद्रगुप्तपत्नी महाराजश्रीगोविंदगुप्त-माता महादेवी श्रीध्रुवस्वामिनी।" यह ध्रुवस्वामिनी महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त द्वितीय की स्त्री और महाराज श्रीगोविंदगुप्त की माता थी। कदाचित् इस वैशाली प्रांत का शासन महारानी श्रीध्रुवस्वामिनी के पुत्र महाराज श्रीगोविंदगुप्त के अधीन था। दूसरी मुहरें महाराज गोविंदगुप्त

के अधीन प्रांत के अन्य राज-कर्मचारियों, मुख्य मुख्य नागरिकों और संस्थाओं की थीं। इन में एक मुहर 'श्री घटोत्कच गुप्त' की थी जो गुप्त-वंश की होनी चाहिए। श्रीयुत डी० आर० भांडारकर का अनुमान है कि जहाँ पर ये मुहरें मिली हैं वहाँ मिट्टी की मुहरों के साँचे बनाने वाले का कारखाना होगा और ये मिली हुई मुहरें उस समय के अधिकारियों की असली मुहरों के नमूने होंगे।[१] इन मुहरों पर प्रांतीय सरकार के भिन्न भिन्न कर्मचारियों की निम्नलिखित उपाधियाँ मिलती हैं—

'कुमारामात्याधिकरण'—कुमार का प्रधान मंत्री। प्रांत के शासन में राजकुमार अपने मंत्री-मंडल से सलाह लिया करता था। सेना का प्रधान सचिव 'बलाधिकरण' कहलाता था।[२] युद्ध-सामग्री का कोषाध्यक्ष 'रण-भांडागाराधिकरण' और पुलिस का अफ़सर 'दंडपाशाधिकरण' कहलाता था। इन के अतिरिक्त राजभवनों का निरीक्षक 'महाप्रतीहार' वा 'विनय-शूर' और न्यायाधीश 'महादंडनायक' कहे जाते थे। वैशाली की पूर्वोक्त मुहरों में एक पर "तीरभुक्तौ विनय-स्थितिस्थापकाधिकरण" लिखा है। डाक्टर ब्लौच का अनुमान है कि इस राजमंत्री का वही कार्य होगा जो अशोक के नियत किये हुए 'धर्म-महामात्रों' का था। अर्थात् 'वे धर्म की रक्षा करने के लिये, धर्म की वृद्धि करने के लिये और धर्मात्मा जनों के हित और सुख के लिये सब संप्रदायों में कार्य करने को नियत किये

---

[१] आर्कियोलोजिकेल सर्वे रिपोर्ट, १९०३-४, पृ० १०१-२० श्रीयुत ब्लौच की बसाढ़ की खुदाई।

[२] 'कुमारामात्याधिकरण' तथा 'बलाधिकरण' इन उपाधियों के साथ जुड़ी हुई 'भट्टारक' और 'युवराज' की भी उपाधियाँ मिलती हैं। इससे प्रकट होता है कि इन मुद्राओं के 'युवराज' पद से राजा के उत्तराधिकारी का तात्पर्य नहीं है। संभवतः ये 'कुमारामात्य' के उच्चश्रेणी के ख़िताब होंगे। गुप्त-साम्राज्य के राज-कर्मचारियों को कई प्रकार के ऊँचे ऊँचे शानदार ख़िताब और रुतबे मिला करते थे, यह बसाढ़ की मुद्राओं से सूचित होता है।

गये थे।'[1] "श्री परम भट्टारक पादीय कुमारामात्याधिकरण" यह किसी दूसरे मंत्री की उपाधि एक मुद्रा पर लिखी मिलती है। यह मुद्रा संभवतः सम्राट् के नियत किये हुए राजकुमार के प्रधान मंत्री की होगी। "तीरभुक्त्युपरिकाधिकरण" = तिरहुत प्रांत के शासक के दफ़्तर की सूचक राजमुद्रा पर यह लेख है। एक दूसरी मुद्रा पर "वैशाल्यधिष्ठानाधिकरण" लिखा है। यह कदाचित् वैशाली नगर के शासक की मुद्रा थी। एक मुहर पर 'उदनकूप परिषद्' का उल्लेख है। इस से सूचित होता है कि परिषद् अथवा पंचायत जो हिंदू शासन-पद्धति का सदा से महत्त्वपूर्ण अंग रही है, गुप्त-काल में भी विद्यमान थी। "श्रेष्ठी-सार्थवाह-कुलिक निगम" का उल्लेख कुछ मुद्राओं पर मिलता है। इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय पूँजीपति (श्रेष्ठी), व्यापारी (सार्थवाह) और अन्य व्यवसायियों के सुव्यवस्थित संघ मौजूद थे। राज्य भी इन के संघ की सत्ता मानता था। गुप्तकाल में भी सेठ, साहूकार और व्यापारियों के बहुत से संघ थे। इन में एक मुहर 'प्रथम कुलिक' की है जो कदाचित् अपने संघ का प्रधान होगा। ये निगम वा गण बैंक का भी काम करते थे। प्रायः भारतवर्ष का संपूर्ण व्यापार और व्यवसाय इन्हीं निगमों-द्वारा होता था।

दामोदरपुर (ज़िला दिनाजपुर—बंगाल) से दो ताम्रपत्र मिले हैं जो क्रम से ई० स० ४४३-४४४ और ई० स० ४४८-४४९ (गुप्त संवत् १२४ और १२९) के हैं।[2] इन में धर्मकार्य के लिये सरकार से भूमि ख़रीदने और उस का सुवर्ण मुद्राओं में (दीनार) मूल्य देने का उल्लेख है। भूमि ख़रीदनेवाले को अपने विषयपति (ज़िला अफ़सर) के पास आवेदनपत्र देना और वहाँ की प्रचलित प्रथा के हिसाब से उसकी क़ीमत का उल्लेख करना पड़ता था। जब उस के प्रार्थना-पत्र पर राज्य का पुस्त-

[1] चतुर्दश शिलालेख, लेख-सं० ५।

[2] एपि० इंड० जिल्द १७, पृष्ठ १३४-१४१।

पाल (रैकर्ड-कीपर) अपनी अनुमति दे देता था तब प्रार्थी को उतन भूमि माप कर दे दी जाती थी। इस से स्पष्ट है कि शासन के छोटे व सभी कार्य सरकारी दफ़्तरों में नियमानुसार लिखे जाते थे। वैशाली व अनेक प्रकार की मुहरों से सिद्ध होता है कि शासन के विभिन्न विभाग की जुदी जुदी तरह की मुहरें होती थीं जिन का उपयोग तत्तद् विभाग व कार्यवाही में हुआ करता था। प्रांतीय शासकों के पास राजा की लिखि आज्ञाएँ जाती थीं। एक ताम्रपत्र से पता लगता है कि ये आज्ञाएँ तभ ठीक मानी जाती थीं, जब कि उनपर सरकारी मुहर हो, प्रांतीय शास की स्वीकृति हो, राजा का हस्ताक्षर और तत्संबंधी सब क्रियाएँ ठीक हों। राजा की तरफ़ से दी गई तमाम सनदों और दान-पत्रों पर राज-मुद्रा व छाप होती थी। सम्राट् समुद्रगुप्त के सन्धिपत्रों और सनदों पर गरुड़ व चिह्न[२] रहता था यह प्रयाग की प्रशस्ति में लिखा है।

राजा के बड़े कर्मचारियों में 'मंत्री', 'सांधिविग्रहिक', 'अक्षपटलाधि कृत'[३] और 'महादंडनायक'[४] आदि का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है प्रांत के शासक को 'उपरिक महाराज' कहते थे। कई शिलालेखों में प्रांती शासकों के गोप्ता, भोगिक, भोगपति, राजस्थानीय आदि नाम भी मिल हैं। प्रांतीय शासक विषय या ज़िले के शासक को नियुक्त करता थ जिसे 'विषयपति' वा 'आयुक्तक' कहते थे। वैशाली की दो मुद्राओं प 'तीर भुक्त्युपरिकाधिकरणस्य' लिखा है, जो तिरहुत प्रांत के शासक

---

[१] मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं सचिह्नकं ।
राज्ञः स्वहस्तशुद्धं च शुद्धिमाप्नोति शासनम् ॥
ओझा, मध्यकालीन भारत—एपि० इंडिका, ३. ३०२।

[२] 'गरुत्मदंकस्वविषय-भुक्ति-शासन याचनाद्युपाय सेवाकृत बाहुवीर्यप्रसरध णिबंधस्य'। फ़्लीट, गु० शि० १।

[३] आय-व्यय का हिसाब रखनेवाला।

[४] न्यायाधीश।

दफ़्तर की मुद्रा है। गुप्तकालीन शिलालेखों और मुद्राओं में कुछ और भी राजकर्मचारियों के नामों का उल्लेख मिलता है, जैसे शौल्किक (कर लेनेवाला कर्मचारी), गौल्मिक (दुर्गपाल), ध्रुवाधिकरण (भूमि-कर लेनेवाला), भांडागाराधिकृत (कोषाध्यक्ष), तलवाटक (ग्राम का हिसाब रखनेवाला), करणिक (रजिस्ट्रार) अग्रहारिक (दानाध्यक्ष)।[१] संपूर्ण सेना के अधिकारी को 'महाबलाधिकृत' कहते थे। 'भटाश्व सेनापति', पैदल और घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को कहते थे। कर्मचारियों की उपर्युक्त नामावली से स्पष्ट सिद्ध है कि गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था सुसंगठित थी। गुप्तवंश के सम्राट् विशिष्ट विद्वान और योग्यतम व्यक्तियों को ही शासन के काम में नियुक्त करते थे। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के लेखक महाकवि हरिषेण ऐसे विद्वान, न्यायाधीश, सन्धि-विग्रह-विभाग और राजकुमार के मन्त्रिपद पर नियुक्त थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के संधि-विग्रह-विभाग का मंत्री कवि वीरसेन था जो व्याकरण, साहित्य, न्याय और लोकनीति का विद्वान था—'शब्दार्थ न्यायलोकज्ञः'। उसकी सचिव-पदवी कुल-क्रमागत थी 'अन्वयप्राप्त साचिव्य'। साँची के लेख में आम्र-कार्द्दव नाम के चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक बड़े अफ़सर का पंचमंडली (पंचायत) को प्रणाम कर एक गाँव और २५ दीनारों के दान करने का उल्लेख है। उसने अनेक युद्धों में विजयी होकर यश प्राप्त किया था—'अनेक समरावाप्त विजय यशस्पताकः'॥ गुप्तवंश के राजा लोग सार्वजनिक हित के कार्यों के लिये बहुत कुछ दान किया करते थे। ऐसे दान का विभाग 'अग्रहारिक'—उपाधिधारी अफ़सर के अधिकार में रहता था। राजा ही नहीं, उसके परिवार के लोग और उच्च पदाधिकारी उनका अनुकरण कर बहुत-सा दान दिया करते थे। उदाहरणार्थ, ई० स० ४२३-४२४ में मयूराक्ष नामक मंत्री ने दो मंदिरों के साथ साथ अपने नगर के लोगों के

---

[१] गुप्त लेख—सं० १२।

सुख के लिये सभा-भवन बनवाये, बगीचे लगवाये, कूएँ, तालाब आदि कई प्रकार के साधन प्रस्तुत किये थे।[१]

उस समय दानपत्र को शासन कहते थे। प्रत्येक शासन में दान में दी गई भूमि की सीमा और क्षेत्रफल बड़ी सावधानी के साथ लिख दिया जाता था जिससे आगे चलकर कोई गड़बड़ न हो। भूमिदान हमेशां के लिये होता था।[२] राजा के सामन्त, कर्मचारी और प्रजा सब को शासन ही के द्वारा दान की गई भूमि पर हस्तक्षेप करने से स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया जाता था।

एकछत्र शासन के अधीन अनेक राष्ट्रों के राजनीतिक संगठन से गुप्त-साम्राज्य बना था। इस राष्ट्र-मंडल में गुप्तवंशी राजा चक्रवर्ती थे। उन के विरुद 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परम भट्टारक' आदि होते थे। उन की प्रभुता सर्वतोमुखी कही जाती थी। चारों समुद्र पर्यंत उन का यश फैला हुआ था, ऐसा कवि लोग उन के विषय में वर्णन करते थे।[३] उत्तर में

---

[१] "वापी तड़ागसुरसद्म सभोदुपाननानाविधोपवनसंक्रम दीर्घिकाभिः।"

फ्लीट—गुप्त लेख, १७।

[२] षष्ठिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
आक्षेप्ता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत्॥
भूमिप्रदानन्न परं प्रदानं दानाद्विशिष्टं परिपालनञ्च।
सर्वेऽतिसृष्टां परिपाल्य भूमिं नृपा नृगाद्यास्त्रिदिवं प्रपन्नाः॥

—महाभारत का अवतरण, संक्षोभ के खोह से मिले ताम्रशासन में, फ्लीट, गु० शि० सं० २५।

[३] "चतुरुदधि सलिला स्वादित यशसः"।—मथुरा का शिलालेख, फ्लीट, सं० ४।

"चतुरुदधि जलान्तां स्फीतपर्यन्तदेशाम्
अवनिमवनतारिर्यश्चकारात्मसंस्थाम्"।—स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ का शि० ले० फ्लीट, सं० १४।

हिमालय से दक्षिण में महेंद्र पर्वत तक और पूर्व में लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी से पश्चिम में समुद्र तक जिस के शासन को सामंत राजा स्वीकार करते थे वही भारत के प्राचीन नीतिशास्त्रों और काव्यों में आदर्श चक्रवर्ती सम्राट् कहा जाता था।[१] ऐसे ही प्रतापी राजा पूर्वोक्त उपाधियाँ धारण करते थे। साम्राज्य के अधीन राष्ट्रों के राजा अपने अपने देश के शासन करने में स्वतंत्र थे। उन की आभ्यंतर नीति पर चक्रवर्ती राजा का कुछ भी अंकुश न रहता था। भिन्न भिन्न देश, कुल, जाति आदि के धर्मों का आदर करना—उन के नीति-नियमों और प्रथाओं में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करना—यह हिंदू राजनीति का पुराना सिद्धांत था। गुप्त-सम्राट् भी अपने सामंत राजाओं के साथ व्यवहार करने में इसी नीति-रीति का अनुसरण करते थे। सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने निकटवर्ती राजाओं के देशों को स्वाधीन किया था, परंतु उसने बहुत से अन्य राजाओं को जीत कर फिर उन्हें स्वतंत्र कर दिया था। बहुत से राजघराने जो उस के द्वारा परास्त हो चुके थे, फिर से स्थापित कर दिये गये थे। अनेक गण-राज्य भी उस का प्रभुत्व स्वीकार कर स्वाधीन बने रहे। सामंत राजाओं के दरजे और अधिकार कई प्रकार के थे। उदाहरणार्थ, सीमांत प्रदेशों

"चतुस्समुद्रान्त विलोल मेखलां सुमेरु कैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुट पुष्प हासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति॥"

—मंदसोर का शि० ले० फ्लीट सं० १८।

'आसमुद्रक्षितीशानाम्'—रघुवंश, १।

'उदधिश्यामसीमां धरित्रीम्'—शाकुन्तल, ५।

[१] आलौहित्योपकंठात्तलवनगहनोपत्यकादामहेन्द्रात्
आगङ्गाश्लिष्ट सानोस्तुहिन शिखरिणः पश्चिमादापयोधेः।
सामन्तैर्यस्य बाहु द्रविण हृतमदैः पादयोरानमद्भि
श्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते॥

—मंदसोर का यशोधर्म का स्तंभ लेख, फ्लीट, गु० नि० ३३।

के राजा सामंतों की अपेक्षा उच्चश्रेणी के थे। 'महाराज' और 'महासामंत' कदाचित् एक ही दरजे के थे। गुप्त शिलालेखों में 'महाराज' उपाधिधारी सामंतों के नाम के साथ 'पादानुध्यात' विशेषण भी मिलता है, अर्थात् वे अपने सम्राट् के चरणों का ध्यान करनेवाले थे। जिस साम्राज्य के वे अधीन थे उस का उल्लेख वे अपने शिलालेखों और ताम्र-शासनों में बड़े आदरपूर्ण शब्दों में किया करते थे। डहाला (बुंदेलखंड) के महाराज संक्षोभ के ई० स० ५२९ के ताम्रशासन में "गुप्तनृप राज्य भुक्तौ श्रीमति प्रवर्धमान विजय राज्ये"[१] इन आदरसूचक शब्दों में गुप्त-साम्राज्य का उल्लेख किया गया है। कहीं कहीं शिलालेखों में गुप्त-संवत् भी, 'अभिवर्धमान विजय-राज्य-संवत्सर' इन गौरवान्वित शब्दों में लिखा मिलता है।

गुप्त-काल में भारत की सांपत्तिक अवस्था

गुप्त-साम्राज्य में प्रजा धनधान्यपूर्ण थी। देश का व्यापार भी बहुत उन्नत दशा में था। राजा और प्रजा पुण्यार्थ बहुत-से धन का विनियोग करते थे। सम्राट् समुद्रगुप्त ने अश्वमेध का अनुष्ठान कर असंख्य गौ और सुवर्ण का दान किया था—'न्यायागतानेक गो हिरण्य कोटि प्रदस्य'। मंदिर, अन्नसत्र, पांथशाला, औषधालय, कूएँ, बावड़ी, तड़ाग, उपवन आदि राजा और प्रजा द्वारा किये हुए अनेक धार्मिक कार्यों का गुप्त-काल के शिलालेखों से पता चलता है जिन से हमें राष्ट्र की तत्कालीन समृद्धि का दिग्दर्शन होता है। इलाहाबाद ज़िले में गढ़वा नामक ग्राम से गुप्त-संवत् ८८ (ई० स० ४०७) के शिलालेख में एक ब्राह्मण के नित्य भोजन—'सदासत्र' के लिये १० दीनारों के दान का उल्लेख है। इस से स्पष्ट है कि एक मनुष्य के नित्य भोजन के लिये उस समय की दस सुवर्ण मुद्राएँ पर्याप्त होती थीं। गुप्त संवत् ९३ (ई० स० ४१२) के साँची के शिलालेख में चंद्रगुप्त

---

[१] फ़्लीट, गु० शि० सं० २५।

विक्रमादित्य के सेनापति आम्रकार्दव ने दस बौद्ध भिक्षुओं को 'यावच्चंद्रा-दित्यौ' भोजन दिये जाने और बुद्धदेव के मंदिर में एक दीपक जलाने के लिये १०० दीनारों के दान का उल्लेख किया है। अर्थात् दस भिक्षुओं के नित्य के भोजन के लिये उस समय सिर्फ़ १०० दीनारों का सूद काफ़ी होता था। गुप्त संवत् १३१ (ई० स० ४५०) के साँची के एक दूसरे शिलालेख में १२ दीनारों के व्याज से सदा संघ में एक भिक्षु को भोजन कराने तथा भगवान बुद्ध के मंदिर में तीन दीनारों के व्याज से सदा तीन दीपक जलाने का दाता की ओर से आदेश है।[1] गुप्त राजाओं के दीनार रोम देश की सुवर्ण मुद्रा की तोल के अनुसार १२४ ग्रेन के होते थे जो हमारी वर्तमान तोल के अनुसार आठ माशे से कुछ अधिक होते थे।[2] दस दीनार आजकल के लगभग सात तोले सुवर्ण के बराबर होंगे। इतनी थोड़ी रक़म के व्याज से एक मनुष्य उस समय आजीवन निर्वाह कर सकता था। आजकल की अपेक्षा खाद्य पदार्थ अत्यन्त सस्ते होंगे। चीनी यात्री फ़ाहियान ने भी लिखा है कि हमारे देश में उस समय साधारणतया निर्वाह के लिये केवल कौड़ियों की ही आवश्यकता होती थी। गुप्त सम्राटों के भिन्न भिन्न प्रकार के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों का प्रचुर प्रचार होते हुए भी साधारण वस्तु-विनिमय के लिये कौड़ियाँ ही काफ़ी होती थीं। उस समय के बढ़े चढ़े व्यापार की सुविधा के लिये ही गुप्त नरेशों को तरह तरह के सिक्के चलाने पड़े होंगे। प्रजा की आर्थिक उन्नति के साधनों पर उस समय ख़ूब ध्यान दिया जाता था। हिंदू राजधर्म के अनुसार प्रजा के भूत्यर्थ ही राजा

---

[1] आर्यसंघाय अक्षयनीवी दत्ता दीनारा द्वादश एषां दीनाराणां या वृद्धिरुप-जायते तया दिवसे दिवसे...भिक्षुरेकः भोजयितव्यः। रत्नगृहेऽपि दीनारत्रयं दत्तं तद्दीनारत्रयस्य वृद्ध्या रत्नगृहे भगवतो बुद्धस्य दिवसे दिवसे दीपत्रयं प्रज्वालयि-तव्यम्।—फ्लीट, गु० शि०; सं०

[2] रैप्सन—भारतीय सिक्के, पृष्ठ १७, ७०।

को वलि लेना चाहिए।[१] न्याय से अर्थ का उपार्जन करना, उस की रक्षा तथा वृद्धि करना और उस का प्रजा के हितार्थ उचित उपयोग करना यह हिंदू राजनीति का पुराना सिद्धांत था। गुप्त-नरेश भी इसी नीति का अनुसरण करते होंगे—इस में संदेह नहीं। जूनागढ़ के शिलालेख से प्रकट होता है कि स्कंदगुप्त ने उक्त सिद्धांत को लक्ष्य में रखकर अपने सारे भृत्य-मंडल में से पर्णदत्त को ही सुराष्ट्र (काठियावाड़) का शासक नियुक्त किया था। पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को गिरिनगर की रक्षा का भार सौंपा था। वहाँ चंद्रगुप्त मौर्य के समय का एक विशाल 'सुदर्शन' नामक सरोवर बना था, जिस में से अशोक ने नहरें निकलवाई थीं जिन-से कृषक सिंचाई करते थे। स्कंदगुप्त के समय वह सरोवर घोरवृष्टि के कारण टूट गया, किंतु चक्रपालित ने अमित द्रव्य लगा कर उस का पुनः जीर्णोद्धार किया—'धनस्य कृत्वा व्ययमप्रमेयम्'।

गुप्त-काल के उद्योग-धंधे श्रेणियों के अधीन थे। भिन्न भिन्न पेशेवाले अपना अपना नियमबद्ध समुदाय बनाते थे। ये श्रेणियाँ अपना अपना व्यवसाय करती थीं। उनके प्रत्येक सभ्य को अपनी अपनी संस्था के नियमों का पालन करना पड़ता था। बसाढ़ (जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) से बहुत सी मिट्टी की मुहरें मिली हैं जो चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय के आसपास की हैं। उन में कुछ मुहरों पर 'श्रेष्ठिसार्थवाह-कुलिक-निगम' लिखा है। इन से प्रकट होता है कि सेठों, व्यापारियों और अन्य व्यव-सायियों की श्रेणियाँ (निगम) उस समय बनी हुई थीं और वे अपनी अपनी संस्थाओं की ख़ास मुहर-छाप रखते थे। उक्त मुद्रा के लेख से यह

---

[१] 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥' —कालिदास, रघु० १
न्यायार्जनेऽर्थस्य च कः समर्थः स्यादर्जितस्याप्यथ रक्षणे च।
गोपायितस्यापि च वृद्धिहेतौ वृद्धस्य पात्रप्रतिपादनाय॥
—फ्लीट, सं० १४, १०।

अनुमान होता है कि भिन्न भिन्न निगमों के प्रधानाध्यक्ष प्रतिनिधि रूप से स्थानिक शासन में भाग लेते होंगे। इस अनुमान की पुष्टि दामोदरपुर से मिले हुए ताम्रपत्र के लेखों से भी होती है। वे विषयपतियों को राज्य-प्रबंध में सलाह दिया करते थे। राज्य के अधिकारी उन के नियमों का आदर करते थे। ये निगम-संस्थाएँ बहुत समय से प्रचलित थीं। मंदसोर से मिले हुए एक शिलालेख से पाया जाता है कि रेशम के कारीगरों का एक समुदाय (श्रेणी) गुजरात (लाटदेश) से चलकर मालवा में आ बसा था और वहाँ कुमारगुप्त के राज्यकाल में मालव संवत् ४९३ (ई० स० ४३७) में सूर्य का विशाल मंदिर बनवाया था।[1] उन्हीं उदार व्यव-सायियों ने मालव संवत् ५३० (ई० स० ४७३) में उस मंदिर का पुनः संस्कार कराया था। अपने कलाकौशल से उन्होंने ख़ूब संपत्ति प्राप्त की थी। स्कंदगुप्त के समय ई० स० ४६५ में किसी देवविष्णु नामक ब्राह्मण ने इंद्रपुर (ज़िला बुलंदशहर) के सूर्य-मंदिर में अपने दान की रक़म के ब्याज से दीपक जलाने का काम तेलियों की एक श्रेणी को सौंपा था।[2] ये श्रेणियाँ बैंक का भी काम करती थीं। धर्म-कार्यों के लिये, ये लोगों का धन जमाकर उसपर बराबर ब्याज दिया करती थीं।

गुप्तकाल में भारत का वैदेशिक संबंध

कुछ विद्वानों की धारणा है कि हिंदू लोग सदा से एकांतवासी थे और विदेशों से वे किसी तरह का संपर्क न रखते थे। उनके धार्मिक बंधन उन्हें देश के बाहर निकलने से रोकते थे। उनके आचार-विचार दूसरी जातियों के संसर्ग से कलुषित न हो जायँ, इस शंका से वे विदेशों में जाने

---

[1] "शिल्पावाप्तैर्धनसमुदयैः पट्टवायैरुदारम्।
श्रेणीभूतैर्भवनमतुलं कारितं दीप्तरश्मेः॥"
"स्वयशोवृद्धये सर्वमत्युदारमुदारया।
संस्कारितमिदं भूयः श्रेण्या भानुमतो गृहम्॥"

[2] फ़्लीट—गु० शि० इंदौर का ताम्रपत्र—नं० १६।

से घबड़ाते थे। फिर, भारत की रत्नगर्भा वसुंधरा में जन्म लेकर कौन भला विदेशों की परवा करता था! परंतु ये सब भ्रांतिपूर्ण उद्गार भारत के प्राचीन इतिहास से अनभिज्ञ लोगों के हैं। भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन हिंदुओं ने कभी अपना जीवन कूपमंडूकवत् नहीं बिताया। अपने देश की संस्कृति के प्रचार और व्यापार की वृद्धि करने में हिंदू लोग सदा से उत्साहशील थे। वे केवल अपनी ही उन्नति और मुक्ति से संतुष्ट नहीं थे, किंतु उनमें जो कुछ उत्कृष्ट था उसे बिना किसी जाति, मत वा संस्कृति के भेद-भाव के अपने प्राचीन पड़ोसियों में वितरण करने के लिये वे सदा से उत्सुक थे। वेदयुग से ही आर्य-संस्कृति का प्रभाव भिन्न भिन्न देशों और जातियों में परस्पर के शांतिमय संपर्क द्वारा फैला था। गंगा, यमुना और सरस्वती नदी की संकीर्ण भूमि में जो संस्कृति विकसित हुई वह समस्त भारतवर्ष में और इसके बाहर एशिया-खण्ड के लगभग ४/५ भागों में काल-क्रम से फैल गई। यह मनुष्य-जाति के इतिहास-पृष्ठ पर लिखे हुए बड़े से बड़े आश्चर्यों में एक आश्चर्य है। बौद्ध धर्म के प्रारंभ-काल से तो भारतीय संस्कृति का संक्रमण जहाँ तहाँ बड़े तीव्र वेग से होने लगा। अशोक के धर्म-शिक्षक 'धर्म-विजय' करने के लिये एशिया, यूरोप और अफ्रीका को पधारे। वे जहाँ गये वहाँ उन्होंने इस देश की विद्या, कला और संस्कृति को फैलाया। 'पृथ्वी-मंडल के सारे मनुष्य अपना अपना चरित्र—अपना अपना कर्तव्य—इस देश में जन्म पाने-वाले उच्चवर्ग के लोगों से सीखें'—इस प्रकार उपदेश हिंदुओं के परम मान्य शास्त्रकार मनु ने किया था।[1] सारांश यह कि भारतवर्ष ने अपना प्रकाश—अपने ज्ञान और धर्म की निधि—अन्य जातियों से छिपाकर नहीं रखी।

---

[1] एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथ्व्यां सर्वमानवाः॥
—मनुस्मृति।

पुरातत्त्व के पंडितों के श्लाघ्य प्रयत्नों से आज हमारे ऐतिहासिक क्षितिज में भारतवर्ष के बाहर के अनेक देश दृष्टिगत होने लगे हैं जिन पर भारतीय सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ा था। स्टीन (Sir Aurel Stein) ग्रनवेडेल (Grunwedel) आदि विद्वानों ने प्रमाणित कर दिया है कि मध्य एशिया किसी समय भारतवासियों का बहुत बड़ा उपनिवेश और भारतीय सभ्यता का एक स्वतंत्र केंद्र था। प्राचीन भारत एशिया की संस्कृति का पथप्रदर्शक था इसमें किसी विद्वान् को अब संदेह नहीं है। मध्य एशिया के रेगिस्तान में सैकड़ों नगरों के खंडहर आदि मिले हैं। उन्हीं सब खंडहरों आदि में जो प्राचीन सिक्के मिले हैं उनपर खरोष्ठी अक्षरों में भारत की प्राकृत भाषा और चीनी अक्षरों में चीनी भाषा के लेख खुदे हैं। खोतान से १३ मील दूर गोसिंग विहार के भग्नावशेषों में भूर्जपत्र पर खरोष्टी लिपि में लिखा हुआ पाली भाषा का बौद्ध ग्रन्थ मिला है, जो ईसा के जन्म के आस-पास का है। दूसरा वैद्यक का ग्रन्थ कुचार के समीप मिंगाई में कैप्टेन बोवर (Captain Bower) को मिला था, जो संस्कृत भाषा में ई० स० की चौथी शताब्दी की लिपि में लिखा हुआ माना जाता है। फाहियान ने अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि गोबी की मरुभूमि को १७ दिन में बड़े संकट से पार कर हम शेनशन प्रदेश (चीनी तुर्किस्तान) में पहुँचे। इस देश का राजा बौद्ध है। यहाँ अनुमान चार हजार से अधिक बौद्ध साधु रहते हैं, जो सब हीनयान संप्रदाय के अनुयायी हैं। यहाँ के लोग, क्या गृहस्थी क्या श्रमण, सब भारतीय आचार और नियम का पालन करते हैं। यहाँ से पश्चिम के सब देशों में भी ऐसा ही पाया गया, केवल लोगों की भाषा में अंतर है, तो भी सब श्रमण भारतीय ग्रंथों और भारतीय भाषा का अध्ययन करते हैं। खोतान के विषय में उस ने लिखा है कि यह देश सुहावना और समृद्धि-शाली है। यहाँ की जनता बहुत बड़ी और संपन्न है। सब लोग बौद्ध-धर्म को मानते हैं। यहाँ दस हजार श्रमण रहते हैं जिनमें अधिक महायान पंथ के अनुयायी हैं। अभ्यागत श्रमणों के लिये लोग संघरामों

(मठों) में कमरे वनाते हैं जहाँ उनकी आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं। यहाँ चीनी यात्री ने रथयात्रा का उत्सव देखा था। चीनी यात्रियों के वर्णन से मध्य एशिया के इन देशों में भारतीय सभ्यता का इस समय साम्राज्य होना पाया जाता है।

गुप्त-युग के ई० स० ३५७ से ई० स० ५७१ तक भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों से लगभग दस धर्मशिक्षक चीन-साम्राज्य में गए थे। चीन देश से फ़ाहियान प्रभृति वौद्ध यात्रियों का भारत में ताँता-सा बँध गया था। चीन के इतिहासकारों से भारत के उन धीर-वीर विद्वानों का पता चलता है, जो धर्म के आवेश में मार्ग के अनेक कष्ट सहकर चीन पहुँचे थे और वहाँ वौद्ध ग्रंथों का अनुवाद कर उनका प्रचार किया था। ई० स० ३८१ में कुभा (कावुल) निवासी वौद्ध श्रमण संघभूति ने चीनी भापा में तीन वौद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया। प्रसिद्ध श्रमण कुमारजीव ई० स० ३८३ में चीन देश में ले जाये गये थे जहाँ ई० स० ४१२ पर्यंत उन्हों-ने सुखावतीव्यूह, वज्रच्छेदिका आदि अनेक वौद्ध ग्रंथ चीनी भापा में अनुवाद किये। वुद्धयशस्, पुण्यतर, विमलाक्ष नामक वौद्ध भिक्षुओं ने किपिन (काश्मीर वा गांधार) से चीन में जाकर धर्म का प्रचार किया था (ई० स० ४०३–४०६)। इनके उपरांत चीन-सम्राट् के निमंत्रण को स्वीकार कर श्रमण धर्मरक्ष (ई० स० ४१४) मध्यभारत से चीन को गया था। वुद्धजीव, धर्ममित्र, कालयशस्, वुद्धभद्र, गुणवर्मन्, संघवर्मन्, गुणभद्र इत्यादि वौद्ध विद्वान, यहाँ से गुप्त-युग में धर्म-प्रचार के लिये चीन देश को पधारे थे। चीनी इतिहासकारों ने लिखा है कि जावा द्वीप में वौद्ध धर्म का प्रचार काश्मीर के युवराज गुणवर्मन् ने किया था, जिसकी मृत्यु चीन के नानकिंग नगर में ई० स० ४३१ में हुई। इत्सिंग के कथनानुसार गुप्तवंश के संस्थापक श्रीगुप्त ने चीनी यात्रियों के लिये एक मंदिर वन-वाया था। चीन के रेशमी वस्त्र—चीनांशुक—का उल्लेख प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में मिलता है। इन सव उल्लेखों से स्पष्ट सिद्ध है कि भारतवर्ष और

चीन-साम्राज्य में पहले से और इस समय बड़ा ही घनिष्ट धार्मिक और व्यापारिक संबंध था।[1]

रोम के सम्राटों के दरबार में भारतवर्ष से तीन बार ई० स० ३३६, ३६१ और ५१० में दूतमंडली के भेजे जाने का उल्लेख मिलता है। कुशन और गुप्त काल के सिक्कों में रोम के सिक्कों का अनुकरण पाया जाता है। रोम के सुवर्ण के सिक्के का वाचक शब्द 'डिनेरियस' का गुप्तकालीन संस्कृत भाषा में 'दीनार' के रूप में प्रयोग होने लगा था। इससे अनुमान होता है कि भारत का रोम-साम्राज्य से इतना अधिक व्यापार होता था कि रोम के सोने के सिक्के (दीनार) आमतौर से इस देश में व्यवहार में आने लगे थे। रोम-साम्राज्य के अभ्युदय-काल में वहाँ के सोने, चाँदी और ताँबे के लाखों सिक्के भारतवर्ष में आया करते थे।[2] आर्यावर्त और दक्षिणापथ के भिन्न भिन्न स्थानों से अब भी समय समय पर रोम देश के बहुत से सिक्के मिला करते हैं। प्रथम शताब्दी के रोमन इतिहासकार प्लिनी ने लिखा है कि रोम-साम्राज्य से भारतवर्ष में सुवर्ण की नदी बही चली जाती है और हमें अपने भोग-विलास की सामग्री के लिये उस देश को अपना विपुल धन देना पड़ता है।

---

[1] देखिये सेविल डफ—दी क्रोनोलोजी आफ इंडिया, १८९९।

[2] सेवेल—रोमन कॉइन्स फाउंड इन इंडिया—जे० आर० ए० एस०, १९०४, ५९१-६३७।

सातवाँ अध्याय

संस्कृत वाङ्मय का विकास

कविवर हरिषेण, कालिदास, वत्सभट्टि

संस्कृत वाङ्मय के विकास की चर्चा करते हुए प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने यह पक्ष प्रतिपादित किया था कि विदेशी जातियों के आक्रमण के कारण ई० स० की पहली और दूसरी सदियों में हिंदुओं ने कोई साहित्यिक उन्नति नहीं की। उनके वाङ्मय का विकास इस पराधीनता के समय में बिलकुल स्थगित हो गया। बुद्धदेव के समय से गुप्त-काल तक आठ सदियों की दीर्घ निद्रा में भारत की संस्कृत वाणी निमग्न हो गई। गुप्तयुग के आरंभ होते ही अकस्मात् हिंदू धर्म और संस्कृत विद्या का पुनरुज्जीवन होने लगा। परंतु मैक्समूलर का ऐसा निर्णय विद्वानों की परीक्षा में नितांत निर्मूल सिद्ध हुआ। संस्कृत विद्या के विकास-क्रम में विदेशियों के आने से कोई क्षति नहीं हुई। पहला कारण तो यह है कि यवन, शक आदि विदेशियों का अधिकार समस्त भारत के पाँचवें भाग से अधिक प्रदेश पर अंत तक नहीं हुआ। दूसरा महत्त्व-पूर्ण कारण यह है कि इस समय के विदेशी राजाओं का भारतीय संस्कृति के प्रति लेश भर भी द्वेष-भाव न था। वे हिंदू जाति की अपेक्षा स्वयं सभ्यता में बहुत न्यून थे। इस कारण वे भारतीय संस्कृति के संक्रामक प्रभाव में पड़कर स्वयं हिंदू बन गये थे। उन्होंने अपने विजित देश की संस्कृति को पूर्ण रूप से अपना लिया था। भारत में बसने के बाद उन्होंने शीघ्र ही हिंदू नाम ग्रहण कर लिये थे। उदाहरणार्थ, कुशनवंशी शाही हुविष्क के पुत्र का नाम 'वासुदेव' था। शक-राजा नहपान की पुत्री का 'दक्षमित्रा' और जामाता का नाम

उषवदात (ऋषभदत्त) था। पश्चिम के शक जातीय क्षत्रपों के हिंदू नाम जयदामा, रुद्रदामा आदि हो गए। इन विदेशी राजाओं ने भारतीय धर्मों को भी अपनाया। यवन मिनेंद्र (मिलिंद) ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। ईसा के जन्म से लगभग १४० वर्ष पूर्व तक्षशिला के यवन राजा एंटियाल्किडस का राजदूत हेलियोडोरस विदिशा (भेलसा) के राजा भागभद्र के दरबार में आया। वहाँ उसने 'देव देव वासुदेव' का गरुड़ध्वज स्तंभ बनवाया और उसपर अपने आपको भागवत धर्म के अनुयायी होने का उल्लेख किया।[1] विदेशी लोगों पर भागवत धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा था। भागवत पुराण में लिखा है कि उक्त धर्म का आश्रय लेकर वे शुद्ध हो गये।[2] यह यवनदूत भगवद् गीता में प्रतिपादित—'वासुदेवः सर्वम्'—इस आदर्श का मानने वाला था।

कुशन-सम्राट् कनिष्क बौद्ध-धर्म का महान संरक्षक था। उषवदात और दक्षमित्रा ने नासिक और कार्ले के शिला-लेखानुसार, बौद्धों और ब्राह्मणों को विना भेदभाव के अनेक दान दिये थे और दानशील हिंदू की भाँति पुण्यार्थ लोकहित के अनेक काम किये थे। ऐसे अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं जिनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि

---

[1] "देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं
कारिते इअ हेलिओ दोरेण भागवतेन
दियसपुत्रेण तखसिलाकेन योनदूतेन
आगतेन महाराजस अंतलितस उपंता सकासं
रजो कासिपुत्रस भागभद्रस त्रातारस।"

—भिलसा का स्तम्भ-लेख।

मि० स्मिथ इस लेख को ई० स० पूर्व १४० के आसपास का अनुमान करते हैं।

[2] किरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसाः आभीरकंकायवना खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

—भागवत, २, ५, १८।

विदेशियों के आक्रमण से भारतीय संस्कृति की उन्नति में कोई भी बाधा नहीं पड़ी।

संस्कृत के काव्य, नाटक, अलंकारशास्त्र आदि वाङ्मय के विषयों का अविच्छिन्न विकास विदेशियों की परतंत्रता में भी बराबर होता रहा। इस समय के प्राकृत और संस्कृत शिलालेखों की रचना-शैली पर विचार करने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि संस्कृत में आलंकारिक रचना विदेशियों के शासनकाल के बहुत पहले से होती चली आई थी। शक जाति के महाक्षत्रप रुद्रदामा के शक संवत् ७२ (१५० ई० स०) का गिरनार का संस्कृत शिलालेख उत्कृष्ट रचना का उदाहरण है। इस में लिखा है कि रुद्रदामा व्याकरण, संगीत, तर्क आदि शास्त्रों का प्रसिद्ध ज्ञाता था, धर्म पर उस का बड़ा अनुराग था, और आलंकारिक गद्य और पद्य की रचना में, वह बड़ा कुशल था, जिसमें स्फुटता, चमत्कार, मधुरता, वैचित्र्य, सौंदर्य, कवि-समयोचित उदारता और अलंकार इत्यादि गुण थे।[१] इससे स्पष्ट है कि रुद्रदामा संस्कृत की काव्य-शैली से खूब परिचित था। उस के समय से बहुत पहले संस्कृत काव्य का ही नहीं, किंतु अलंकार-शास्त्र का भी पूर्ण विकास हो चुका था। भरत के नाट्यशास्त्र में और दंडी के काव्यादर्श में कथित काव्य के गुणों का उल्लेख रुद्रदामा की प्रशस्ति में स्पष्टरूप से किया गया है।[२] संस्कृत में ऐसा काव्य 'वैदर्भी रीति' का कहलाता है।

---

[१] 'अर्जितोर्जित धर्मानुरागेण शब्दार्थ गांधर्वन्यायाद्यनां विद्यानां महतीनां पारण धारण विज्ञान प्रयोगावाप्त विपुल कीर्तिना'—

'स्फुट लघु मधुर चित्र कांत शब्द समयोदारालंकृत गद्यपद्य [काव्य विधान-प्रवीणेन'] शकाब्द ७२ (ई० स० १५०) का रुद्रदामा की गिरनार-प्रशस्ति।

—एपि० इं० जिल्द ८, ४७।

[२] श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यं।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।

—भरत-नाट्य शास्त्र, १६।

मैक्समूलर के अनुसार जिस समय संस्कृत वाङ्मय घोर निद्रा में पड़ा था, उस समय भी संस्कृत की रचनाएँ होती थीं जिसमें विदेशी राजा भी भाग लेते थे। कनिष्क (ई० स० १२०) के राजपण्डित अश्वघोष ने बुद्धचरित्र नाम का संस्कृत में एक महाकाव्य लिखा था। नागार्जुन, आर्य-शूर, मातृचेत, असंग, वसुबंधु आदि बौद्धधर्म के प्रगल्भ विद्वानों ने दूसरी से चौथी शताब्दी पर्यंत अपनी कृतियोंद्वारा संस्कृत वाङ्मय की श्रीवृद्धि की थी। संस्कृत का इस युग में इतना विशाल और विकसित साहित्य था कि बौद्ध विद्वानों को भी अपने गंभीर विचारों के प्रकट करने के लिये पाली और प्राकृत भाषा का पक्ष छोड़कर संस्कृत की ही शरण लेनी पड़ी। संस्कृत वाङ्मय का अविच्छिन्न उन्नति-क्रम गुप्त-युग में पराकाष्ठा तक पहुँच गया। वह भारतीय प्रतिभा के अद्भुत उन्मेष का समय था। संस्कृत वाङ्मय का वह सुवर्ण युग था। संस्कृत-भाषा ने राष्ट्र-भाषा का स्थान ले लिया था। संस्कृत का उपयोग न केवल राजाओं की प्रशस्तियों और मुद्राओं में होता था, किंतु प्रजा के भी साधारण दानपत्र और व्यवहार की बातें संस्कृत में ही लिखी जाती थीं। इन शिलालेखों की रचना-शैली बड़ी ही प्रांजल, परिमार्जित और भावपूर्ण थी। संस्कृत काव्य का पूर्ण विकास इस समय हुआ था। सम्राट् समुद्रगुप्त संगीत और काव्य आदि ललित कलाओं का बड़ा प्रेमी था। वह 'कविराज' था और उसकी रचनाओं का विद्वज्जन अनुकरण करते थे। उसकी सभा के महाकवि हरिषेण ने प्रयाग के स्तम्भ पर लिखी हुई प्रशस्ति का निर्माण किया था जिसके गद्य और पद्य में जितना शब्द-सौष्ठव था उतना ही अर्थगौरव। उदाहरणार्थ, नीचे लिखे श्लोक में हरिषेण ने भरी सभा में अपने पिता-द्वारा समुद्रगुप्त का युवराज पदवी पर नियुक्त किये जाने का सारा दृश्य एक छोटे-से भावोत्पादक चित्र-रूप में अंकित किया है :—

आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः ।
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननो द्वीक्षितः ॥

स्नेहव्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा।
य पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ॥

अर्थ—'जिसको उसके समान कुलवाले (ईर्ष्या के कारण) म्लान हुए मुखों से देखते थे, जिसके सभासद् हर्ष से उच्छ्वसित हो रहे थे, जिसके पिता ने उसको रोमांचित होकर यह कहकर गले लगाया कि तुम सचमुच आर्य हो, और अपने चित्त का भाव प्रकट करके स्नेह से चारों ओर घूमती हुई, आँसुओं से भरी, तत्व के पहचाननेवाली दृष्टि से देखकर कहा कि इस अखिल पृथ्वी का इस प्रकार पालन करो।'

संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक निश्चित समय का लेख उपलब्ध होना बड़े ही सौभाग्य की वात मानी जाती है। संस्कृत ग्रंथों का काल-निर्णय करने और उसके साहित्य के विकास-क्रम के स्थिर करने में विद्वानों को बड़ा ही परिश्रम और गवेषण करना पड़ता है। अतएव, हरिषेणरचित काव्य, समुद्रगुप्त के समय का होने के कारण, संस्कृत की काव्य-शैली के विकास-क्रम को समझने के लिये बड़े महत्त्व का है। ऐसा ही निश्चित काल का दूसरा संस्कृत शिलालेख कवि वत्सभट्टि का है। इस में दशपुर (मंदसोर) में सूर्य के मंदिर वनवाने का वर्णन है। रेशम के कारीगरों ने इस मंदिर को मालव संवत् ४९३ (ई० स० ४३७-३८) में निर्माण करवाया था और मालव संवत् ५३० (ई० स० ४७३-७४) में इसका जीर्णोद्धार किया था। चौथी और पाँचवीं शताब्दी के इन कवियों की काव्य-कला में परम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है।

संस्कृत की काव्य-शैली की विचार-दृष्टि से कविकुलगुरु कालिदास का इस युग में होना अनुमान किया जाता है। गुप्त-कालीन भारतीय प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार इस कविशिरोमणि की कृतियों में स्पष्ट झलकता है। यह विद्वानों की तर्कना है। सातवीं सदी में हर्ष के समकालीन कविवर वाणभट्ट से पहले कालिदास हो चुके थे यह वाणकृत हर्षचरित के उल्लेख

से निर्विवाद सिद्ध है।[1] बाण के पूर्ववर्ती काल में कालिदास किस राजा की सभा के रत्न थे, किस देश में जन्मे थे और किन परिस्थितियों में उन की कोमलकांत कला का विकास हुआ था इत्यादि प्रश्नों पर आधुनिक विद्वानों में बड़ी ही विनोद-पूर्ण चर्चा चलती है। 'मंदबुद्धि और कवि-यश के चाहनेवाला मैं अवश्य लोक में उपहासास्पद बनूँगा, विद्वानों को परितोष न हो तो मेरा प्रयोग-विज्ञान निरर्थक है'—इस प्रकार के विनय भरे उद्गारों के सिवाय कालिदास स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं कहते।[2] अतएव, उन के ग्रंथों की अंतरंग परीक्षा से जो कुछ पता चलता है उसपर विद्वान लोग उनके समय के विषय में अपना अपना अनुमान दौड़ाते हैं।

कथाओं में प्रसिद्ध है कि कालिदास उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में सर्वश्रेष्ठ थे।[3] किंतु इतिहास से पता चलता है कि वे सब विद्वान् समकालीन न थे। उन नवरत्नों में ज्योतिष के आचार्य वराहमिहिर का भी नाम है। किंतु उनका चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन होना इसलिये असंभव है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का राज्य-काल ई० स० ४१४ के लगभग समाप्त हो जाता है और वराहमिहिर की 'पंच सिद्धांतिका' नामक ग्रंथ, उनके ही उल्लेखानुसार, शकाब्द ४२७

---

[1] निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसांद्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥ —बाण, हर्ष-चरित।
'मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्'। रघु० १।

[2] 'आपरितोषा द्विदुषां न मन्ये साधु प्रयोगविज्ञानं।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥'
—अभिज्ञान शाकुन्तल, १।

[3] "धन्वंतरिः क्षपणकामरसिंह शंकु-
वेतालभट्ट घटखर्पर कालिदासाः
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेस्सभायां।
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥"

(ई० स० ५०५) में निर्माण हुआ था। राज-तरंगिणी में लिखा है कि विक्रमादित्य शकारि विद्वानों का आश्रयदाता था। विक्रमादित्य की उपाधि धारण करनेवाला शकों का शत्रु गुप्तवंशी द्वितीय चंद्रगुप्त था यह पहले कहा जा चुका है। ई० स० के ५७ वर्ष पूर्व प्रारंभ होनेवाले विक्रम संवत् के प्रवर्तक 'शकारि विक्रमादित्य' के ऐतिहासिक अस्तित्व के स्वीकार करने में हमें कुछ भी संदेह नहीं। तथापि कालिदास को इस प्रथम विक्रमादित्य का समकालीन मानने में संकोच होता है। पहले विक्रमादित्य का समय अंधकाराच्छादित है। उसके परिज्ञान के साधन हमारे पास न कुछ के बराबर हैं। महाकवि कालिदास की प्रतिभा के विकास का ऐसी ऐतिहासिक परिस्थिति में होना असंभव मालूम होता है। वह किसी ऐसे परमोज्ज्वल युग का अलंकार होना चाहिए जिसमें भारत के बुद्धि-वैभव का अपूर्व उद्घाटन हुआ हो। वैसा समय गुप्त-युग ही था। इसलिये अधिकतर विद्वान् कालिदास को द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं, जिसने उज्जैन पर शकवंश को नष्ट कर अपना अधिकार जमाया था। ऐतिहासिक शिलालेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि विक्रम संवत् आरंभ में मालव संवत् के नाम से प्रचलित था और विक्रम के नाम से बहुत पीछे प्रसिद्ध हुआ। अतएव, कालिदास गुप्त-काल के शकारि विक्रमादित्य के समकालीन होने चाहिएँ। कालिदास की काव्य-शैली भास और अश्वघोष से अधिक परिष्कृत है और गुप्त-काल के महाकवि हरिषेण और वत्सभट्टि से बहुत मिलती जुलती है। रघुवंश, अभिज्ञान शाकुंतल, मेघदूत आदि कालिदास की मनोहर कृतियों की आलोचना से हमारे चित्त में यही संस्कार स्फुरित होता है कि हमारा कवि-शिरोमणि भारतीय इतिहास के किसी सुवर्ण-युग के विभव, वीरता, अभ्युदय, आशा और महाकांक्षाओं का अभिनय अपनी आँखों से देखकर अपने काव्यों में उसे चित्रांकित कर रहा है।

गुप्त-काल के ब्राह्मण-धर्म के अभ्युत्थान का और उस के उज्ज्वल आदर्शों का निरूपण कालिदास के काव्यों में पाया जाता है। चिरकाल

से न होनेवाले अश्वमेध यज्ञ का वर्णन भी कालिदास ने किया है, जिसका पुनरुद्धार गुप्त-सम्राटों के राज्य-काल में हुआ था। रघुवंश के चौथे सर्ग में कविवर कालिदास ने रघु के दिग्विजय का वर्णन किया है। संभवतः, सम्राट् समुद्रगुप्त की युद्ध-यात्रा का स्मरण कर इस महाकवि ने रघु के दिग्विजय की कल्पना की हो। रघु के दिग्विजय का सीमा-विस्तार उतना ही है जितना समुद्रगुप्त का। रघु ने भारतवर्ष के बाहर पारसीक[1] और वंक्षु (आक्सस) नदी के तीर पर हूणों[2] को पराजित किया—यह कालिदास ने लिखा है। समुद्रगुप्त ने भी 'दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही' उपाधि धारण करनेवाले भारत के पश्चिमोत्तरांचल से ईरान की सीमा तक के नरेशों को अपने अधीन किया था। ई० स० ४५५ के लगभग हूण लोग स्कंदगुप्त द्वारा पराजित किये गये थे। ई० स० ४८४ में हूणों ने ससेनियन राजा फीरोज़ को मारकर ईरान और काबुल पर अधिकार कर लिया था। कालिदास के समय में हूण भारत के सीमाप्रांत से बहुत दूर थे। इससे अनुमान होता है कि कालिदास ने चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त के राजत्व-काल में अपने काव्य रचे थे। कालिदास का कथन है कि राजा रघु धर्मविजयी था, दूसरों के राज्य छीनकर उन्हें मार डालना उसे अभीष्ट न था। क्षत्रियों के धर्म के अनुसार, केवल विजय-प्राप्ति के लिये ही, उसने युद्ध-यात्रा की थी। वह शरणागत-वत्सल था। इसने उसने महेंद्रनाथ (कलिंग-देश के राजा)[3] को पकड़ा और उसपर अनु-

---

[1]पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। रघुवंश, ४. ६०।

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः। रघु० ४. ६१।

[2]तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।

कपोल पाटला देशि बभूव रघुचेष्टितम्॥ रघु० ४. ६८।

[3]गृहीत प्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।

श्रियं महेंद्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥ रघु० ४. ४३।

ग्रह कर पीछे छोड़ दिया। उसकी सम्पत्ति मात्र उसने ले ली; राज्य उसका उसी को लौटा दिया।

समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में भी ठीक ऐसा ही उल्लेख मिलता है। उसने भी कोशल के राजा महेंद्र और पिष्टपुर के महेंद्र को परास्त किया जो महानदी और गोदावरी की उत्तरी शाखाओं के बीच के प्रदेश पर राज्य करते थे। उनको और दक्षिणापथ के सब राजाओं को उसने कैद किया, परंतु फिर अनुग्रह के साथ उन्हें मुक्त कर अपनी कीर्ति बढ़ाई[1]। रघु और समुद्रगुप्त दोनों ही की विजय-यात्रा में हिमालय के देश नेपाल आदि और ब्रह्मपुत्र नदी के तटवर्ती 'कामरूप' आदि प्रदेश अंतर्गत थे। विजय-यात्रा की समाप्ति के पश्चात् दोनों ही चक्रवर्ती नरेश यज्ञ करते हैं—एक अपना सर्वस्व दक्षिणा में देकर विश्वजित् और दूसरा करोड़ों की संख्या में गौ और सुवर्ण दानकर अश्वमेध।

कालिदास और हरिषेण के दिग्विजय के वर्णन में इतनी समानता—इतना बिंब-प्रतिबिंब-भाव—है कि मालूम होता है कालिदास ने रघु के दिग्विजय के बहाने समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन किया हो। जैसी कविता कालिदास की है वैसी कविता—वैसी भाषा, वैसी भाव-भंगी—गुप्त-काल के कवि हरिषेण और वत्सभट्टि के समय (ई० स० ३७५-५३०) की थी। उदाहरणार्थ, हरिषेण ने लिखा है कि समुद्रगुप्त ने सत्काव्य और लक्ष्मी के विरोध को मिटा दिया—"सत्काव्य श्री विरोधान्।" कालिदास ने भी इसी भाव का सन्निवेश नीचे लिखी पंक्तियों में किया है:—

निसर्गभिन्नास्पदमेक संस्थं तस्मिंद्वयं श्रीश्च सरस्वती च। रघु, ६।

* * *

---

[1] सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनित प्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य अनेक भ्रष्टराज्योत्सन्न राजवंशप्रतिष्ठापनोद्भूत निखिलभुवनविचरणश्रांतयशसः—फ्लीट, गु. शि. १।

परस्पर विरोधिन्योरेक संश्रय दुर्लभम्।
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्॥
—विक्रमोर्वशी, भरतवाक्य।

मंदसोर की प्रशस्ति का लेखक कवि वत्सभट्टि, जो प्रतिभा में कालिदास से न्यून है, कालिदास की रचनाओं से परिचित प्रतीत होता है और उनका उसने उपयोग भी किया है। उदाहरणार्थ, कालिदास के अलकापुरी के वर्णन से वत्सभट्टि के दशपुर के वर्णन की तुलना कीजिये:—

विद्युत्वंतं ललित वनिताः सेंद्रचापं सचित्राः।
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्ध गंभीर घोषम्॥
अंतस्तोयं मणिमय भुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः।
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥—मेघदूत।

चलत्पताकान्यबलासनान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लता चित्र सिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥
कैलासतुंग शिखर प्रतिमानि चान्यान्याभांति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि।
गांधर्व शब्द मुखराणि निविष्ट चित्रकर्माणि लोल कदली वन शोभितानि॥

कालिदास और वत्सभट्टि की रचनाओं में इतना स्पष्ट विचार-सादृश्य है कि एक ने अवश्य ही दूसरे का अनुकरण किया होगा। दोनों का सादृश्य दिखाने के लिये डाक्टर कीलहोर्न ने दोनों कवियों के नीचे लिखे श्लोक उद्धृत किये हैं:—

न चंदनं चंद्र मरीचि शीतलं
न हर्म्य पृष्ठं शरदिंदुनिर्मलम्
न वायवः सांद्रतुषार शीतलाः
जनस्य चित्तं रमयंति सांप्रतम्।—ऋतुसंहार, ५. ३।

रामा सनाथ भवनोदर भास्करांशु-
वह्नि प्रताप सुभगे जल लीन मीने।

चंद्रांशु हर्म्यतल चंदन तालवृंत

हारोप भोगरहिते हिमदग्धपद्मे ।

—वत्सभट्टि, मंदसोर शिलालेख ई० सन् ४७२ ।

कालिदास के काव्य की छाया गुप्त-कालीन शिलालेखों में स्थल स्थल पर देख पड़ती है । स्कंदगुप्त के भिटारी के लेख की पंक्तियों से कालिदास की उक्तियों की तुलना कीजिये :—

चरितममल कीर्तेर्गीयते यस्य शुभ्रम् ।

दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः ॥—भिटारी का लेख ।

तथा

इक्षुच्छाया निषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्

आकुमार कथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥—रघु० ४. २० ।

अथवा

क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा—भिटारी लेख ।

तथा

नरपति रतिवाह्यां बभूव काचिद् समेत परिच्छदस्त्रियाणाम्—रघुवंश ।

कालिदास प्रथम कुमारगुप्त के मयूरांकित सिक्कों से भी परिचित प्रतीत होते हैं । इन सिक्कों पर एक ओर राजा खड़ा होकर एक मोर को खिला रहा है और राजा के चारों ओर 'जयति स्वभूमौ गुणराशि ··· महेंद्रकुमारः' लिखा है । दूसरी ओर परवाणि नामक मोर पर सवार कार्तिकेय की मूर्ति है । कुमारगुप्त का कार्तिकेय की मूर्ति वाला सिक्का भारत के प्राचीन सिक्कों में कला-कौशल की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माना गया है । संभवतः इस परम सुंदर सिक्के को देखकर कालिदास ने रत्नजटित आसन पर बैठे हुए राजा अज की शोभा की उपमा मोर पर सवारी करनेवाले कार्तिकेय (गुह) से दी हो, क्योंकि कवि की अनोखी सूझ का कारण उसके देखे हुए कुमार गुप्त के नवीन प्रकार के सुंदर मयूरांकित सिक्के ही अनुमान किये जा सकते हैं ।

परार्घ्य वर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः ।

भूयिष्ठ मासीदुपमेय कान्तिर्मयूर पृष्ठा श्रयिणा गुहेन ॥— रघुवंश ६. ४ ।

अब बहुत से विद्वान् यह मानने लगे हैं कि कालिदास के काव्यों में गुप्तवंश ही का व्यंजना से वर्णन है। 'विक्रमोर्वशी' और 'कुमारसंभव' कदाचित विक्रमादित्य और कुमारगुप्त के नाम से संबंध रखनेवाले कालिदास के द्वारा उन्हें भेंट किये गये काव्य और नाटक हों। कालिदास ने रघुवंश में, इंदुमती के स्वयंवर में सबसे पहले मगध-नरेश का वर्णन किया है। कवि ने उस मगधेश्वर की नक्षत्र-तारा-गण के मध्य में विराजमान चंद्रमा से तुलना की है और उसे यज्ञों के निरंतर अनुष्ठान से सहस्रनेत्र (इन्द्र) को बुलानेवाला कहा है।[1] कुमारगुप्त के कुछ सिक्कों पर उत्कीर्ण लेखों और कालिदास के उक्त वर्णन में बिंब-प्रतिबिंब-भाव झलकता है। उस के सिक्कों पर लिखा है—"गुप्त कुल व्योम शशी जयत्यजेयोऽजितमहेंद्रः", तथा "गुप्त कुलामलचंद्रो महेंद्रकर्माऽजितो जयति"[2] अर्थात् 'गुप्त-कुल का निर्मल चंद्र, जो यज्ञ-यागादि कर्मों में महेंद्र बन गया है, जो अजित है वह विजयी है।'

उक्त तर्कना और विचार-परंपरा से यही निष्कर्ष निकलता है कि महाकवि कालिदास हिंदू-संस्कृति की परमोन्नति के युग में हुए होंगे, क्योंकि उसका पूर्ण प्रतिबिंब उनके काव्य-नाटकों में विशदरूप से झलकता है। 'रत्नं समागच्छतु कांचनेन' इस न्याय से भी कालिदास किसी 'सुवर्ण-युग' का जाज्वल्यमान रत्न ही माना जा सकता है। इंगलैंड के इतिहास में जैसे युग का प्रतिनिधि महाकवि शेक्सपियर है भारत के इतिहास में भी वैसे ही युग का चतुर चित्रकार महाकवि कालिदास है। जगत के

---

[1] कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।

नक्षत्र ताराग्रह संकुलापि ज्योतिष्मती चंद्रमसैव रात्रिः ॥

क्रियाप्रबंधादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।— रघुवंश, ६. २२, २३ ।

[2] जोन एलन—'गुप्तवंश की मुद्रा'—प्रस्तावना, पृ० ११३ । आर० डी० बनर्जी:— प्राचीनमुद्रा, पृ० १७६ ।

सभी विद्वानों ने उसकी लोकोत्तर प्रतिभा की—कोमलकांत कविता और ललित नाट्यकला की—मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। जिसने उसके सोने को अग्नि में परखा है उसने ही उसे परम विशुद्ध बतलाया।[1]

कालिदास के गुप्त-कालीन होने का पता 'कुंतलेश्वर दौत्यम्' नामक नाटक से भी चलता है, जिसे काश्मीर के कवि क्षेमेंद्र ने कालिदास-रचित बतलाया है।[2] इस नाटकीय कथा में लिखा है कि कालिदास को विक्रमादित्य ने कुंतल प्रदेश (दक्षिण महाराष्ट्र) में वहाँ की शासन-व्यवस्था को देखने के लिये अपना राजदूत बना कर भेजा था। जब कालिदास कुन्तल से लौटकर वापिस आया तब उसने वहाँ के विलास-मग्न राजा का कच्चा चिट्ठा एक श्लोक के द्वारा सम्राट् विक्रमादित्य को कह सुनाया। उस श्लोक का तात्पर्य यह है कि कुंतलेश आपपर सब राज्य-भार छोड़कर भोग-विलास में अपना समय बिताता है।[3] इस श्लोक का उल्लेख इस कथा-प्रसंग के साथ राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में और भोज ने 'सरस्वती-कंठाभरण' में किया है। 'शृङ्गार-प्रकाश' में भी इस का उल्लेख है। संस्कृत के 'भरत चरित'[4] नामक ग्रंथ में लिखा है कि 'सेतु-बंधम्' नाम के प्राकृत काव्य की रचना किसी कुंतलेश (कुंतल के राजा)

---

[1] तं संतः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्ति हेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपिवा॥—रघु० १।

[2] देखिये क्षेमेंद्रकृत 'औचित्य-विचार-चर्चा'।

[3] "असकल हसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्त कर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धी न्याननानि प्रियाणाम्।
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥"

[4] भरतचरित, १ सर्ग (त्रिवेंद्रम सीरीज़ सं० ८६)।
'जड़ाशयास्यान्तरगाधमार्गमलब्धरन्ध्रं गिरि चौर्यवृत्त्या।
लोकेष्वलङ्कान्तमपूर्वसेतुं बबन्ध कीर्त्या सह कुन्तलेशः॥'

ने की।[1] यह प्रसिद्ध प्राकृत काव्य प्रवरसेन का रचा हुआ था। इसकी 'रामसेतु प्रदीप' नामक टीका में इस 'सेतुबंध' काव्य को नये राजा प्रवरसेन द्वारा रचित बतलाया गया है और उसमें लिखा है कि विक्रमादित्य ने कालिदास के द्वारा इस काव्य को परिशुद्ध कराया। इस समय कुंतल पर वाकाटकवंश का अधिकार था। वाकाटकवंशी प्रवरसेन (द्वितीय) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की राजपुत्री, रुद्रसेन की महारानी प्रभावतीगुप्ता का पुत्र था जो कुंतल का स्वामी था। इन सब बातों पर विचार करने से अनुमान होता है कि विक्रमादित्य, कालिदास और कुंतलेश (प्रवरसेन) समसामयिक थे।[2] गुप्त-सम्राट् के आधिपत्य में दक्षिण के वाकाटक राज्य में शांति थी और उस देश में भी गुप्त-कालीन धर्म, साहित्य और कला-कलाप के आंदोलन का प्रभाव पड़ रहा था जिसका दिग्दर्शन हमें 'सेतुबंध' काव्य, शिलालेखों और अजंता के चित्रों में होता है।

नाट्यकार शूद्रक और विशाखदत्त

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में कालिदास के पूर्व भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि प्रसिद्ध नाट्यकार हो चुके थे जिनका उल्लेख कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक में आदरपूर्वक किया है। गुप्त-काल में और भी अनेक नाट्यकार हुए थे। 'मृच्छकटिक' नाटक के कर्ता राजा शूद्रक भी गुप्त-कालीन प्रतीत होते हैं। शूद्रक के जीवन और समय के विषय में हम जिज्ञासाक्रांत हृदय से अंधकार में पड़े हैं। भारतीय नाट्य-कला के पूर्वापर विकास-क्रम पर विचार करते हुए भास के परवर्ती काल में शूद्रक को स्थान देना युक्तिसंगत मालूम होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि विशाखदत्त-रचित 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक द्वितीय चंद्रगुप्त के राज्यकाल में रचा गया था। स्टेन कोनो (Sten

---

[1] कीर्तिर्प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥—बाण—हर्षचरित।

[2] देखिये एस० कृष्ण स्वामी—गुप्त इतिहास का अध्ययन पृष्ठ ५६।

Konow) ने 'मुद्राराक्षस' के भरत-वाक्य के आधार पर, जिस में राजा चंद्रगुप्त के नाम का उल्लेख है, विशाखदत्त को कालिदास का समकालीन सिद्ध किया है। उस भरत-वाक्य में लिखा है कि म्लेच्छों-द्वारा सताई हुई पृथ्वी ने जिस राजमूर्ति की दोनों भुजाओं का आश्रय इस समय लिया है वह राजा चंद्रगुप्त, जिस के बंधु और भृत्य वर्ग श्रीमंत हैं, इस पृथ्वी का चिरकाल तक पालन करे।[1] इस श्लोक में चंद्रगुप्त का स्पष्ट उल्लेख है। 'शक' और 'वाह्लीक' जातियों को उसने पराजित किया था। उसके अनुग्रह से उसके बंधु और भृत्य वर्ग सुखी और समृद्ध थे।[2] साँची के शिलालेख में बौद्ध आम्रकार्दव ने भी चंद्रगुप्त के विषय में यही कहा है—'महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्तपादप्रसादाप्यायितजीवित-साधनः।' विशाखदत्त भी राजा का कदाचित् कृपापात्र सामंत था जैसा ढुण्ढिराज (मुद्राराक्षस के टीकाकार) ने लिखा है।

पुराणों की रचना

गुप्तयुग की साहित्यिक उन्नति में हिंदूधर्म के पुराणों के भी अंतिम संस्करण रचे गये। पुराणों का साहित्य बहुत ही प्राचीन काल से प्रचलित था। कालक्रम से वे संशोधित और परिवर्धित भी होते रहे थे।

---

[1] वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावस्थितस्यानुरूपाम्
यस्य प्राग्दंतकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बंधुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चंद्रगुप्तः॥'—मुद्राराक्षस, ७।

[2] श्रीयुत् काशीप्रसाद जायसवाल ने 'श्रीमद्बंधु' को मंदसोर के ई० स० ४३६ के शिलालेख के बंधुवर्मा से मिला दिया है जो प्रथम कुमारगुप्त का सामंत था। चंद्रगुप्त के समय (ई० ४०४) के लगभग नरवर्मा मंदसोर में शासन करता था। 'श्रीमंतः बंधवो भृत्याश्च यस्य सः' यही अर्थ ठीक है। काशीप्रसादजी का अर्थ—श्रीमान् बंधुः भृत्यो यस्य सः—ठीक नहीं। ई० एंटि० १९१३, १९१९।

उनके पूर्व संस्करणों के विषय परवर्ती काल के संस्करणों में प्रायः ले लिये जाते थे। इस प्रकार क्रमागत पुराणों का अंतिम संपादन गुप्त-युग में हुआ। मूल पुराण में पाँच विषयों की चर्चा करना आवश्यक था।[1] (१) सर्ग (विश्व की सृष्टि); (२) प्रतिसर्ग (कल्प के अंत में प्रलय के अनंतर मूल तत्वों से विश्व की पुनः रचना); (३) वंश (देवताओं तथा ऋषियों के वंश); (४) मन्वंतर (महायुगों में मनुओं की उत्पत्ति); (५) वंशानुचरित (राजवंशों का इतिहास)। उक्त पाँचों अंग सभी पुराणों में नहीं मिलते। जिन पुराणों में राजवंश वर्णित हैं उनसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि अधिकांश पुराणों का अंतिम संपादन गुप्त-काल में ही हुआ था। वर्तमान १८ पुराणों में सिर्फ़ सात पुराणों में राजाओं की वंश-परंपरा वर्णित है। पुराणों में ये राजवंश बहुत प्राचीन और विश्वसनीय इतिहास के आधार पर लिखे गये थे। वेद के समय से राजाओं के वंश-क्रम और उनके पराक्रम के वर्णन करनेवाले सूत कहलाते थे। उन्हीं के आधार पर पुराणों के 'वंशानुचरित' रचे गये होंगे। पुराणों में गुप्त-वंश तक के ही राजवंशों का उल्लेख है। मत्स्य, वायु, भविष्य और विष्णु पुराणों में प्रायः समान ही राजवंशों के वर्णन मिलते हैं। उनमें आंध्रवंश के पतन के पश्चात् मथुरा और चंपावती में नागवंश और मगध और गंगा-यमुना के प्रदेशों में गुप्तवंश का राज्य होना लिखा है।[2] इस से स्पष्ट सिद्ध है कि पुराणों का अंतिम संपादन गुप्तवंश के प्रारंभिक काल में हुआ था।

पुराणों से हिंदू-धर्म की भिन्न भिन्न शाखाओं के व्यापक प्रचार का

---

[1]सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

[2]नवनागास्तु भोक्ष्यंति पुरीं चंपावतीं नृपाः।
मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यंति सप्त वै॥
अनुगंगा प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा······गुप्तवंशजाः।—वायु पुराण।

पता चलता है। वे बड़े ही लोकप्रिय ग्रंथ थे। इनमें बड़ी ही सरल संस्कृत-भाषा-शैली में हिंदू-धर्म के अंग प्रत्यंग का विवेचन स्थूल और सूक्ष्म रूप से किया गया था। उनके पठन-पाठन का सभी वर्णों को अधिकार था। भागवत में लिखा है कि महर्षि व्यास ने महाभारत के नाम से वेद का अर्थ भी प्रकाश कर दिया जिसमें स्त्री, शूद्रादि सभी लोग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का उपदेश प्राप्त कर सकते हैं।[1] बौद्ध धर्म की भाँति पौराणिक धर्म भी उदार और सार्वजनिक था। उस में भिन्न भिन्न धर्मों के समन्वय करने की चेष्टा की गई थी। जैन और बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक वृषभदेव और गौतम बुद्ध पुराण-धर्म में विष्णु के अवतार मान लिये गए। गुप्त-युग में ऐसे ही उदार और लोकप्रिय पुराण-धर्म के व्यापक प्रचार के अनेक प्रमाण संस्कृत-साहित्य में ही नहीं किंतु तत्कालीन शिलालेख, मुद्रा और शिल्प-कला की अद्भुत कृतियों में मिलते हैं। जैसे गुप्त-काल के पूर्व की शताब्दियों में बुद्ध के जीवन-चरित्र और उन के पूर्व जन्म की कथाओं का तथा बौद्ध और जैन स्मारकों का उस समय की शिल्प-कला की कृतियों से पता चलता है, वैसे ही गुप्त-काल के आरंभ होते ही पुराण-धर्म के उपास्य देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ तथा उन के निमित्त निर्माण की गई गुफा, मंदिर, ध्वजस्तंभ आदि का उस समय की शिल्प की कृतियों से अधिकाधिक परिचय मिलता है। पुराण-प्रतिपादित धर्म का उस समय हमारे देश पर व्यापक प्रभाव था।

---

[1] भारत व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्री शूद्रादिभिरप्युत ॥
स्त्रीशूद्रद्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ॥

—महाभारत।

गुप्त-युग के बौद्ध विद्वान

कविवर कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध काव्य मेघदूत में दिङ्नागाचार्य को अपने काव्य का निंदक बताया है। इस से मालूम होता है कि दिङ्नागाचार्य कालिदास के समसामयिक थे। श्रीयुत् शरच्चंद्रदास ने तिब्बत के ग्रंथों का अनुसंधान करके लिखा है कि दिङ्नागाचार्य ने दक्षिण देशवर्ती कांची नगर के पास सिंहवक्र नामक गाँव में जन्म-ग्रहण किया था। वे जाति के ब्राह्मण थे। उन्होंने बाल्यकाल से ही न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। वे बौद्धधर्म में दीक्षित और वसुबंधु के शिष्य थे। एक बार उन्होंने उत्कल (उड़ीसा) के सारे दार्शनिकों को परास्त करके तर्कपुंगव की उपाधि प्राप्त की थी। उनका बनाया प्रमाण-समुच्चय नामक ग्रंथ तिब्बत के पुस्तकालय में मौजूद है। वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका में लिखा है कि भगवान् पक्षिलस्वामी ने न्याय-सूत्रों का जो भाष्य लिखा है, दिङ्नागाचार्य आदि बौद्ध पंडितों ने उसके विरुद्ध अनेक कुतर्क उपस्थित किये हैं। उन कुतर्कों को दूर करने के लिये उद्योतकर ने न्याय-वार्तिक लिखा। अब मैं उसी न्याय-वार्तिक की टीका लिखता हूँ।

बौद्ध विद्वान असंग और वसुबंधु चौथे शतक में विद्यमान थे। असंग वसुबंधु का बड़ा भाई था। प्रसिद्ध चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग ने अपने भारतवर्ष के भ्रमण-वृत्तांत में लिखा है कि जिन चार सूर्यों के प्रकाश से यह जगत् आलोकित है वे आर्य नागार्जुन, असंग, वसुबंधु और देव हैं। परमार्थ ने ई० स० ५४६ और ५६९ के बीच वसुबंधु का जीवन-चरित्र लिखा था। उस के बनाये हुए ग्रंथों का अनुवाद ई० स० ४०४ में चीनी भाषा में किया गया था। ह्वेनसांग ने वसुबंधु को श्रावस्ती (अयोध्या) के विक्रमादित्य का समकालीन लिखा है। विंसेंट स्मिथ ने पेरी (M. Noel Peri) आदि विद्वानों के अनुमान के आधार पर लिखा है कि प्रथम चंद्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त वसुबंधु का गुणग्राही आश्रयदाता था। संभव है कि समुद्रगुप्त अपनी बाल्यावस्था में 'चंद्रप्रकाश'

और 'बालादित्य' कहलाता हो। ई० स० ८०० के आसपास वामन ने भी नीचे लिखे श्लोक में समुद्रगुप्त के वसुबंधु के समसामयिक होने का संकेत किया है :—

सोऽयं संप्रति चंद्रगुप्ततनयश्चंद्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥[1]

इस समय बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों में परस्पर दार्शनिक वाद-विवाद होते थे। सुबंधु ने वासवदत्ता की कथा में लिखा है कि तथागत वा बुद्ध के सिद्धांत का विध्वंस जैमिनि के मतानुयायी किया करते हैं।[2] जैमिनि के मीमांसा-सूत्रों के सर्वप्रथम भाष्यकार शबरस्वामी थे। उन्होंने बौद्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद का खंडन किया है। विज्ञानवाद के संस्थापक आर्य असंग[3] और वसुबंधु[4] थे। शबरस्वामी ई० स० के पाँचवें शतक में हुए होंगे। डाक्टर रामकृष्ण भंडारकर का कथन है कि वैदिक सूत्रों के भाष्यकारों के नाम के साथ 'स्वामिन्' यह आदरसूचक पदवी लगी रहती है, जैसे आश्वलायन-सूत्र के भाष्यकार देवस्वामी, बौधायन के भवस्वामी, आपस्तंब के धूर्तस्वामी, लट्यायन के अग्निस्वामी, इत्यादि। स्वामि-पद-युक्त नामों के उल्लेख गुप्तकाल के ताम्र-पत्रों में पाये जाते हैं। इससे अनुमान होता है कि ऐसे नाम और पदवीधारी भाष्य-कार और विद्वान गुप्त-युग में हुए होंगे।

---

[1] विंसेंट स्मिथ—प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ ३४६, ३४७।

जोन एलन 'चंद्रप्रकाश' को कुमारगुप्त अनुमान करते हैं और वसुबंधु को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का समसामयिक मानते हैं।

[2] केचिज्जैमिनिमतानुसारिण इव तथागत-मत-ध्वंसिनः।

[3] असंग ने बोधिसत्वभूमि, योगाचार भूमिशास्त्र, और महायानसूत्रालंकार रचे थे।

[4] वसुबंधु ने गाथासंग्रह और अभिधर्मकोष लिखा था।

हिंदू दर्शन-शास्त्र

आचार्य गौतम के न्याय-सूत्रों के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्सायन (पक्षिल स्वामिन्) दिङ्नाग के पूर्व हुए थे। उनके न्याय-सूत्र-भाष्य की कहीं कहीं दिङ्नाग ने आलोचना की है। वात्सायन दक्षिण देश के रहनेवाले थे। वे 'द्रामिल'—द्रविड़ देश के—कहलाते थे। संभवतः कांची के प्रसिद्ध विद्यापीठ में ये प्रसिद्ध बौद्ध और हिंदू दार्शनिक रहते थे। उद्योतकर ने वात्सायन-कृत न्याय-भाष्य की टीका छठी सदी के अंत में लिखी थी जिस में उस ने दिङ्नाग के मत का खंडन किया था। छठे शतक के अंत में 'वासवदत्ता' के लेखक सुबंधु ने मल्लनाग, न्यायस्थिति, धर्मकीर्ति और उद्योतकर इन चार नैयायिकों का उल्लेख किया है। सम्राट् हर्ष के समकालीन महा-कवि बाण ने सुबंधु के विषय में लिखा है कि उसकी 'वासवदत्ता' से कवियों का दर्प जाता रहा—'कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।' अनु-मान होता है कि गुप्त-युग की अवसान-वेला में पूर्वोक्त उद्भट दार्शनिक हुए थे। सांख्यदर्शन पर, ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका रची थी। इन कारि-काओं की सब से प्राचीन टीका 'माठर-वृत्ति' हाल ही में उपलब्ध हुई है। टीका-समेत इन कारिकाओं का अनुवाद ई० स० ५५७ और ई० स० ५६९ के मध्य में चीनी भाषा में हुआ था।[1] आर्यछंद में ये कारिकाएँ रची गई हैं। इस समय के आर्यभट्ट आदि विद्वानों ने इस छंद का अपने ग्रंथों में प्रयोग किया है। श्रीयुत रामकृष्ण भंडारकर का मत है कि ईश्वरकृष्ण ५ वीं सदी के आरंभ-काल में हुए थे। इसमें संदेह नहीं कि गुप्त-युग में भारत के दर्शन के छः प्रसिद्ध संप्रदायों—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का पूर्ण विकास हो चुका था। सभी दार्शनिक संप्रदाय उन्नति के शिखर पर थे। ई० स० छठी शताब्दी के पूर्व

---

[1] एस० विद्याभूषण—भारतीय न्यायशास्त्र (भंडारकरस्मारक ग्रंथ) पृष्ठ १६२।

तक छहों संप्रदायों के मुख्य मुख्य सूत्र-ग्रंथों का निर्माण हो चुका था और उनपर प्रामाणिक तथा उपयोगी भाष्य भी लिखे जा चुके थे।[1]

विविध साहित्य

डाक्टर रामकृष्ण भंडारकर का मत है कि गुप्त-युग में ही श्लोकबद्ध स्मृतियाँ, पुराणों के संस्करण और सूत्रों के भाष्य रचे और संशोधित किये गये थे और संस्कृत-विद्या की भिन्न भिन्न शाखाओं को साधारणतया बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला था।[2]

ज्योतिष और गणित शास्त्रों के प्रखर विद्वान् आर्यभट्ट और वराह-मिहिर गुप्त-युग में हुए थे। आर्यभट्ट ई० स० ४७६ और वराहमिहिर ई० स० ५०५ में जन्मे थे। वराहमिहिर के पिता का नाम आदित्यदास था, जो मालवा का रहनेवाला था।[3]

वराहमिहिर ने अपनी 'पंचसिद्धांतिका' में लाटाचार्य, सिंहाचार्य, आर्यभट्ट, प्रद्युम्न और विजयनंदी के मतों को उद्धृत किया है, जो उस-से पूर्व अवश्य हुए होंगे। आर्यभट्ट ने सूर्य और तारों के स्थिर होने तथा पृथिवी के घूमने के कारण दिन और रात होने का वर्णन किया है। उस-ने सूर्य और चंद्र-ग्रहण के वैज्ञानिक कारणों की भी व्याख्या की है। वराहमिहिर यूनान के ज्योतिष के सिद्धांतों से भी परिचित थे। भारतीय ज्योतिष और यूनानी ज्योतिष में बहुत-से सिद्धांत परस्पर मिलते हैं। यूनानी ज्योतिषियों का हमारे ज्योतिषी आदर करते थे। गार्गीसंहिता में लिखा है—

---

[1] रामकृष्ण भंडारकर—प्राचीन भारत का दिग्दर्शन। तथा गौ० ओझा—मध्यकालीन भारत, पृष्ठ ८८।

[2] रामकृष्ण भंडारकर—प्राचीन भारत का दिग्दर्शन।

[3] आदित्य दासतनयस्तदवाप्तबोधः कापित्थके सवितृलब्धवर प्रसादः।
आवंतिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार॥
—बृहज्जातक उपसंहाराध्याय।

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यंते किं पुनर्दैवविद्विजः ॥

—बृहत्संहिता, पृ० ३५ ।

'यवन वास्तव में म्लेच्छ हैं तथापि ज्योतिषशास्त्र उनमें माना जाता है । वे ऋषि के समान पूजे जाते हैं, दैवज्ञ द्विज का तो कहना ही क्या है !'

विंसेंट स्मिथ का कथन है कि गुप्त-युग में जो ई० स० ३०० से ६५० तक का साधारणतया माना जा सकता है, संस्कृत-साहित्य के भिन्न भिन्न विभागों में अनेक पांडित्यपूर्ण कृतियों का निर्माण हुआ था । भारत की प्रतिभा में इस समय अभिनव उन्मेष हो रहा था ।

आठवाँ अध्याय

गुप्तकालीन कलाएँ

स्थापत्यकला—गुप्त-युग में भारत की ललित कलाएँ उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थीं। उस समय की वास्तु, शिल्प, चित्रण आदि कलाओं के बचे खुचे नमूने जो हमें मिल सके हैं वे अत्यंत मनोमोहक हैं। गुप्तकालीन वास्तुकला का इतिहास विशदरूप से नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि मुसलमानों के हमलों ने इस समय के भवनों और मंदिरों को प्रायः नष्ट भ्रष्ट कर डाला था। जो कुछ छोटी-मोटी इमारतें उनके आक्रमणों से बची हैं वे मध्यभारत के दुर्गम स्थलों में ही मिली हैं। झाँसी जिले के देवगढ़ गाँव का विष्णु-मंदिर गुप्त-समय का माना जाता है। इसकी दीवारों के पत्थरों पर तत्कालीन शिल्पकला के उत्तम नमूने खुदे हुए हैं। इनमें योगिराज शिव का शिल्प-चित्र बड़ा ही अनूठा है, जिसमें शिव की मूर्ति और उसकी मुद्रा और भाव-भंगी बड़े चारु-रूप से दरसाई गई है। दूसरे पत्थर में शेषशायी अनंतभगवान विष्णु की मूर्ति खुदी है, जिसे देव, गंधर्व और किन्नर आकाश से देख रहे हैं। इस मंदिर की एक शिला पर 'गजेंद्र-मोक्ष' का आख्यान दरसाया गया है जिस में वरदराज विष्णु गरुड़ पर बैठकर उतरते हुए और ग्राह-ग्रसित गजेंद्र से कमल की भेंट लेकर उसका उद्धार करते हुए दिखलाये गये हैं। कानपुर-जिले के भिटार गाँव का ईंटों का विशाल मंदिर द्वितीय चंद्रगुप्त के समय का माना जाता है। इसमें भी मूर्तियों की रचना बहुत अच्छे ढंग की है। मध्यभारत के
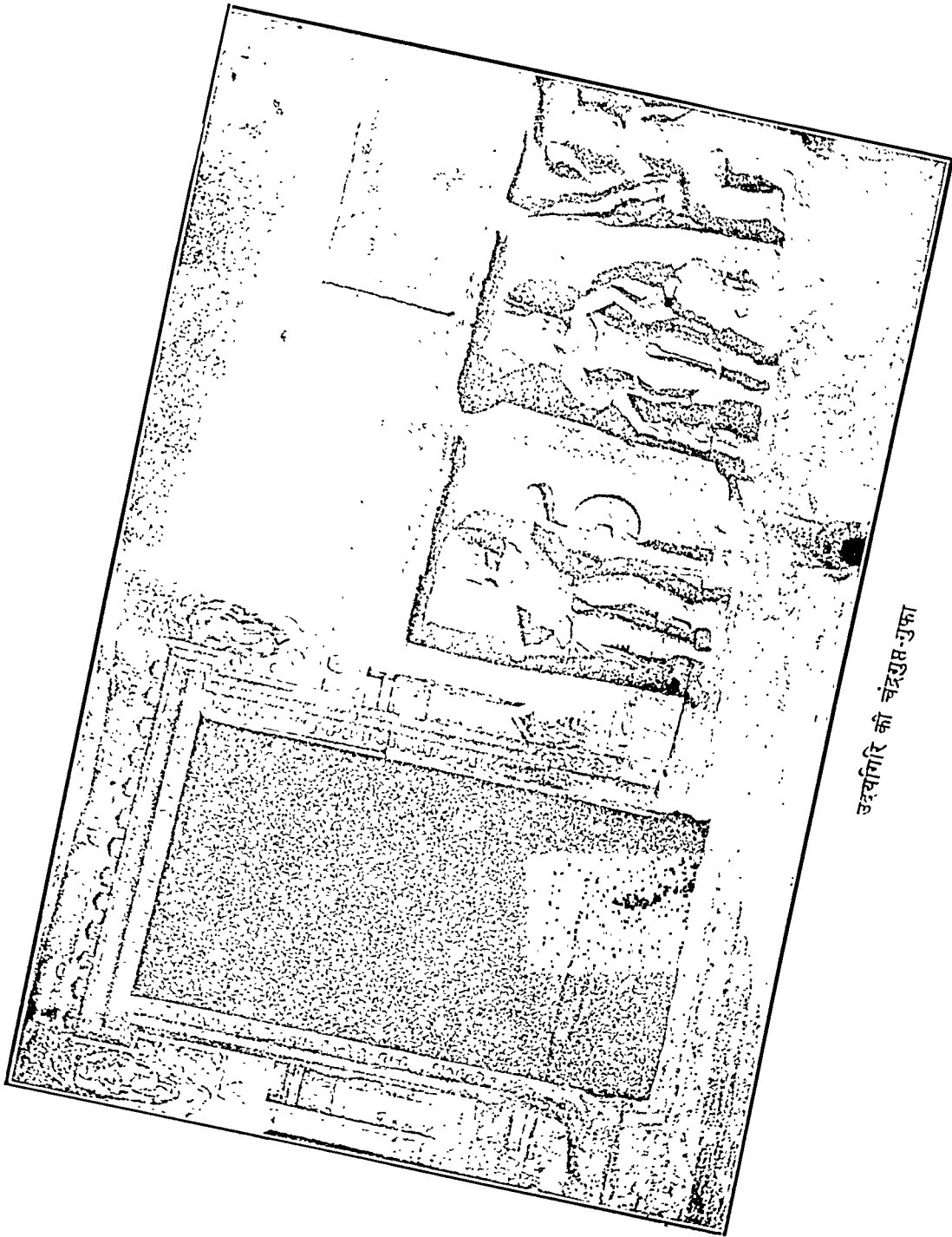
उदयगिरि की चंद्रगुप्त-गुफा

नागोद राज्य में भुमरा गाँव के पास एक प्राचीन शिव-मंदिर के चिह्न मिले हैं।[१] इसका चौथी शताब्दी में निर्माण हुआ था। मंदिर के गर्भ-गृह की विशाल चौखट पत्थर की बनी है। उसकी कारीगरी अपूर्व है, नीचे अगल-बगल मगर तथा कूर्म के वाहन पर गंगा और यमुना की बड़ी सुंदर मूर्तियाँ हैं। ऊपर के पाटन के मध्य में शिवजी की मूर्ति भी देखनेयोग्य है। पत्थर पर खुदे हुए शिवगणों की मूर्तियों के रूप अद्भुत हैं। मंदिर में एक अत्यंत सौम्य मूर्ति का एकमुख लिंग स्थापित था। भुमरा का मंदिर गुप्त-काल की शिल्प और स्थापत्यकला का एक उत्तम उदाहरण है और ऐसा दूसरा मंदिर अब तक कहीं नहीं मिला है। अजयगढ़ रियासत का नयना-कुठरा का पार्वतीजी का मंदिर भी ऐसे ही नक्शे का बना था।

गुप्त-काल की शिल्प-कला के स्मारक चिह्नों में सबसे पहली भेलसा के पास उदयगिरि में खुदी हुई 'चंद्रगुप्त की गुफा' है जो ई० स० ४०१ में समर्पित की गई थी। इस गुफा के द्वार की शिला पर कईएक मूर्तियाँ खुदी हुई हैं जिनमें उछलते हुए सिंहों की जोड़ी और मगर पर बैठी हुई गंगा और यमुना की मूर्तियाँ बड़ी ख़ूबी से दिखलाई गई हैं। द्वार के दोनों ओर चार बड़ी द्वारपालों की मूर्तियाँ हैं। इलाहाबाद ज़िले में गढ़वा गाँव से चंद्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त के समय के शिलालेख तथा शिल्प के सुंदर किंतु टूटे फूटे कितने ही नमूने मिले हैं। गढ़वा के स्तंभों के भग्नाव-शेष जिनपर शिल्प-चित्र और बेल बूटे खुदे हुए हैं गुप्त-कला-कौशल के उत्कृष्ट नमूने हैं।

शिल्प-कला—गुप्त-काल के शिल्पियों ने मूर्ति-निर्माण-कला में भी कमाल हासिल किया था। कुमारगुप्त के राज्य-काल में इलाहाबाद ज़िले

---

[१] आर० डी० बैनर्जीः—नंदी-व्याख्यान, पृ० १७४,१७५।

Memoirs of the A. S. J., The temple of Siva at Bhurma, Pt. III, No. 16.

के मनकुवार गाँव से एक बुद्ध-प्रतिमा ई० स० ४४८-४९ के लेखसहित मिली है। बुद्धदेव अपने दक्षिण हस्त की अँगुलियाँ खोले हुए अभयमुद्रा में, सिंहासन पर वैठे हैं। उनके सिर पर वस्त्र का आवेष्टन है और वे वहुत ही महीन धोती पहिने हुए हैं जिसकी पटलियाँ पंखे की भाँति खुली हुई हैं। उनकी मूर्ति के नीचे धर्म-चक्र है और दोनों ओर ध्यान मुद्रा में बैठी हुई दो मूर्तियाँ हैं। मनकुवार तथा सारनाथ की बैठी हुई और मथुरा के अजायबघर की खड़ी हुई बुद्ध-प्रतिमाएँ गुप्त-कालीन शिल्प के सर्वांग-सुंदर नमूने हैं।[1]

काशी के समीप सारनाथ में जहाँ बुद्धदेव ने अपने धर्म का प्रथम सूत्रपात किया था, अनेक बड़े वड़े विशाल मंदिर गुप्त-काल में निर्माण कराये गये थे यह वहाँ पर मिली हुई सुंदर मूर्तियों के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है। वास्तव में सारनाथ का अजायबघर, गुप्त-काल के उत्तम शिल्प-चित्र और मूर्तियों का ख़जाना है। इन्हें देखने से प्रतीत होता है कि इस युग में सारनाथ में वड़े भव्य भवन और मंदिर बने होंगे जिन में इन सुंदर मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा की गई होगी। इन मूर्तियों की अत्यंत भाव-पूर्ण और सुंदर कारीगरी को देखकर इनकी अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। सारनाथ के 'धामेक' स्तूप पर वेल-वूटों की सजावट अत्यंत नेत्रग्राही है। इस पवित्र स्थान में वौद्धों के स्तूप, चैत्य और विहार आदि शिल्प के अनेक भग्नावशेष गुप्त-काल के और उससे भी वहुत पहले के मौजूद हैं। सारनाथ में भगवान बुद्ध ने पहले पहल 'धर्म-चक्र' का प्रवर्तन किया था। इस कारण वौद्ध इसे अपना तीर्थराज मानते थे। मौर्य-सम्राट् अशोक ने इस स्थान पर वहुत ही सुंदर पत्थर का स्तंभ स्थापित किया था। इसके शिखर पर चार सिंह-मूर्तियाँ हैं जो वड़ी सुंदर, सजीव और स्वाभाविक हैं। सिंह की मूर्तियों के नीचे चार चक्र, हाथी, साँड़, अश्व और सिंह अंकित हैं। इसपर किया हुआ वज्रलेप

---

[1] कोडरिंगटन, एंशेंट इंडिया, पृ० ६०।

विष्णु की गुप्त-कालीन वराह मूर्ति

बहुत ही चिकना और चमकदार है। यह स्तंभ भारतीय शिल्प का परमोत्तम नमूना है। अशोक के बनवाये हुए स्तूप के भी कुछ चिह्न यहाँ मिले हैं। उसके समय की बनी हुई एक ही पत्थर में से तराशी हुई एक सुंदर और चिकनी वेष्टनी (परकोटा) यहाँ उपलब्ध हुई है। मौर्यकाल में पत्थर तराशने की कला पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी। इस प्राचीन विकसित कला का पुनर्दर्शन गुप्त-काल में होता है। इस समय की शिल्प-कला में कुछ ऐसे असाधारण गुण हैं कि तत्कालीन सुंदर कृतियाँ देखते ही पहचान ली जाती हैं। मूर्तियों की रचना बड़ी ही सुचारु और उनकी भावभंगी मनोवेधक है। गुप्त-काल की मूर्तियों में गंभीरता, शांति और चमत्कार है। जैसे इस युग की काव्य-कृतियों में पद-लालित्य के साथ अर्थगौरव पाया जाता है वैसे ही इसकी शिल्पकला में रचनासौंदर्य के साथ विचित्र भावव्यंजना देखने में आती है। इस समय की कला रूप-प्रधान तथा भावप्रधान है। शिल्पकार वस्तु के रूप को सर्वांगसुंदर बनाने में जितने प्रवीण थे उतने ही अपने आंतरिक और आध्यात्मिक भावों को अपनी कृतियों द्वारा दरसाने में सिद्धहस्त थे। उनके हृद्गत भाव उनकी सुंदर रचनाओं में स्पष्ट झलक पड़ते हैं। ऐसे विलक्षण गुण भारत की शिल्पकला में इतने उत्तम रूप में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलते। गुप्त-काल की मूर्तियों के मस्तक पर बेलबूटों से सजा हुआ प्रभामंडल होता है और उनपर सादा और बारीक वस्त्रों का आभरण भी दरसाया जाता है। सारनाथ के अजायबघर में एक अत्यंत सुंदर बुद्धदेव की मूर्ति रखी है जो 'धर्म-चक्र-मुद्रा' में धर्मोपदेश करती हुई दरसाई गई है। यह गुप्त-कालीन प्रतिमा न केवल अपने बाह्य सौंदर्य से हमारे नेत्रों को संतृप्त करती है, किंतु वह हमारे हृदय में, जिन भावों से प्रेरित हो शिल्पकार ने उस मूर्ति को गढ़ा था उनका शीघ्र संचार करती है।

गुप्त-काल के कारीगर लोहे, ताँबे आदि धातु की वस्तुएँ बनाने में बड़े निपुण थे। गुप्त-काल का ढाला हुआ दिल्ली की कुतुबमीनार के पास के लोहस्तंभ की कारीगरी आश्चर्य-जनक है। इतना विशाल स्तंभ आज भी

दुनिया का बड़े से बड़ा लोहे का कारख़ाना कठिनता से गढ़ सकता है। इसपर अभी तक कहीं भी जंग नहीं लगी। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय की साढ़े सात फ़ुट ऊँची बुद्ध की मूर्ति बरमिंगहम के अजायबघर में है। गुप्तवंशी सम्राटों के सोने के सिक्कों में भी भारतीय शिल्प का परम उत्कर्ष दिखाई देता है। गुप्त राजाओं के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के मिलते हैं, जिनमें सुवर्ण के सिक्के उस काल के कलाकौशल के उत्कृष्ट नमूने हैं। उनपर इन राजाओं के कई तरह के कारनामे अंकित किये हुए हैं। उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त के वीणांकित सिक्के उसके संगीत-प्रेमी होने के द्योतक हैं। उसके कुछ सिक्कों पर यज्ञ का अश्व बना है, जो उसके चक्रवर्ती होने का सूचक है। गुप्त-राजाओं ने अपने कई एक सिक्कों पर संस्कृत के सुंदर छंदों में कवितावद्ध लेख लिखवाये थे जिनसे यह अनुमान होता है कि उस समय संस्कृत हमारी राष्ट्र-भाषा थी और राजा भी काव्य, साहित्य और कला के परम अनुरागी थे।

संगीत-कला—भारतवर्ष में संगीत-कला का तो विकास वेद-काल में ही बहुत उच्च कोटि तक पहुँच चुका था। गान, नृत्य, वाद्य संगीत के ये तीनों ही अंग इस देश में बहुत उन्नति कर चुके थे। गुप्त-काल में संगीतविद्या का बड़ा आदर था। संगीत-कला में सम्राट् समुद्रगुप्त को प्रयाग के स्तंभलेख में संगीत के प्राचीन आचार्य नारद और तुंबरु से बढ़कर बतलाया गया है। वह वीणा-वादन में दक्ष था—यह उसके कुछ सिक्कों से स्पष्ट है। वह संगीत-वेत्ताओं का अवश्य दान-मान से आदर करता होगा। ऐसे सहृदय राजाओं के आश्रय से हमारे देश के साहित्य, संगीत और कला की अपूर्व श्रीवृद्धि हुई थी।

चित्र-कला—हमारी प्राचीन चित्र-कला के नमूने जो कालकवलित होने से बच गये हैं वे केवल पहाड़ों को खोद-खोदकर बनाई हुई सुंदर विशाल गुफाओं की दीवारों पर ही पाये जाते हैं। इनमें अजंता की चित्रांकित गुफाएँ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। ये गुफाएँ हैदराबाद राज्य के औरंगाबाद ज़िले में अजंता गाँव से पश्चिमोत्तर चार मील दूर स्थित
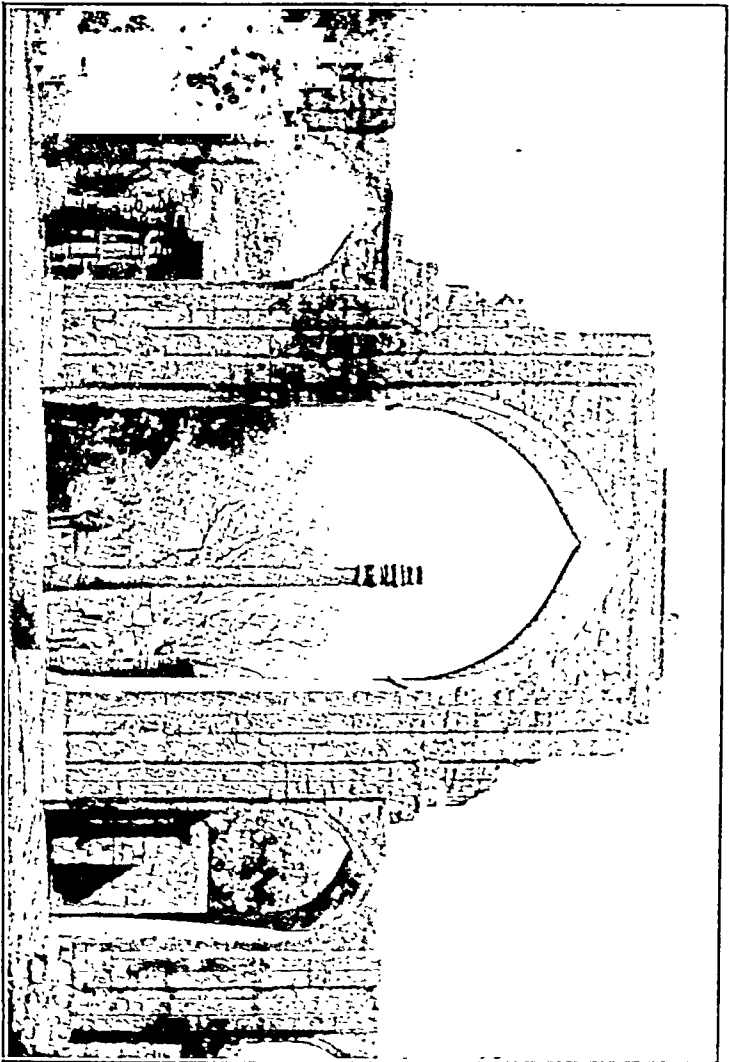
महरौली का लौह-स्तम्भ

पर्वत-श्रेणी में खुदी हुई हैं। इनमें २४ विहार (मठ) और ५ चैत्य (स्तूपवाले विशाल भवन) बने हैं, जिनमें तेरह में दीवारों, भीतरी छतों, या स्तंभों पर चित्र अंकित किये गए हैं। ये सब गुफाएँ एक समय की कटी हुई नहीं, किंतु अनुमानतः ईसवी सन् की चौथी शताब्दी से लगाकर सातवीं शताब्दी के आस-पास तक समय समय पर बनी हैं। डाक्टर विंसेंट स्मिथ का कथन है कि अजंता की १६ वीं और १७ वीं संख्यावाली चित्रों से सजी हुई गुफाएँ गुप्तकाल के वाकाटक-वंशी राजाओं की छत्र-छाया में बनाई गई थीं। चित्र-कला के मर्मज्ञ पंडितों ने अजंता के चित्रों की भूरि प्रशंसा की है। उनमें अनेक प्रकार का अंग-विन्यास, मुख-मुद्रा, भाव-भंगी और अंग-प्रत्यंगों की सुंदरता, नाना प्रकार के केशपाश, वस्त्राभरण, चेहरों के रंगरूप आदि बहुत उत्तमता से बतलाये गये हैं। इसी तरह पशु-पक्षी, पत्र-पुष्प आदि के चित्र बहुत सुंदर हैं। डेनमार्क-वासी एक कलाविशारद का मत है कि अजंता के चित्रों में भारत की चित्र-कला का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है और उनमें छोटे से छोटे पुष्प वा मोती से लेकर समस्त वस्तु की रचना में चित्रकार ने अपना अद्भुत कला-कौशल और प्रतिभा दिखलाई है। इस समय की चित्र-कला इतनी उन्नत अवस्था में थी कि संस्कृत के कवि इस कला के पारिभाषिक शब्दों का उपमालंकार में बड़ी खूबी से उपयोग करते थे। कविवर कालिदास रचित कुमारसंभव का एक श्लोक इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। वह पार्वती के नवयौवन का वर्णन करते हुए लिखता है :—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं
सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविंदम्।
बभूव तस्याः चतुरस्रशोभि
वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कालिदास, कुमारसंभव।

ई० बी० हैवेल ने लिखा है कि—"यूरोपियन चित्र मानो पंख कटे हुए हों ऐसे प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे लोग केवल पार्थिव सौंदर्य का चित्रण जानते थे। भारतीय चित्रकला अंतरिक्ष में ऊँचे उठे हुए दृश्यों को नीचे

पृथ्वी पर लाने के भाव और सौंदर्य को प्रकट करती है।" बड़े ही भाव-पूर्ण एवं अनुपम चित्र अनुमान १४०० वर्ष पूर्व के बने हुए अजंता की गुफाओं में अब तक विद्यमान हैं; और इतना समय बीतने पर भी उनके रंग की चमक दमक आज भी वैसी ही चटकीली होने के कारण बीसवीं शताब्दी के यूरोपियन कला-कौशलधारी चित्रकार भी भारत के इन प्राचीन चित्रों के संमुख सिर झुकाते हैं।[1]

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के विद्वान् विंसेंट स्मिथ ने लिखा है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और उसके दोनों क्रमानुयायियों के अधिकार-काल में लगभग ई० स० ३७५ से ४९० पर्यंत हिंदू-साहित्य, विज्ञान और कला का प्रत्येक विभाग औदार्यपूर्ण राज्याश्रय पाकर खूब उन्नत हुआ। अधिकांश विद्वानों की संमति है कि गुप्त राजाओं की राजसभा के एक जाज्वल्यमान रत्न कविकुलगुरु कालिदास ने पाँचवें ही शतक में अपने परम सहृदयाह्लादक काव्य और नाटक रचे थे। साहित्य और विज्ञान की भाँति शिल्प और चित्र-कला ने भी पूर्ण उन्नति की थी।[2] गुप्त-काल के शिल्पियों में यह विशिष्ट गुण था कि मनुष्य की मूर्ति बनाने में आकृति की स्वाभाविकता तथा अंग-विन्यास पर पूरा ध्यान देते थे। कलाविशारद कोडरिंगटन का कथन है कि भावप्रधान होने के कारण गुप्त-शिल्प-कला की पर्याप्त प्रशंसा की गई है; किंतु उसकी स्वाभाविकता, अंग-सौंदर्य, आकार-प्रकार और सजीव रचना-शैली आदि गुण भी उतने ही प्रशंसनीय हैं। विवेक और सौंदर्य से अनुप्राणित होने के कारण ही गुप्त-कालीन वास्तु-कला और शिल्प भारतीय कला के इतिहास में सर्वो-

---

[1] हैवल—भारतीय तक्षण और चित्रकला, पृ० ८८। गौ० ही० ओझा—राजपूताने का इतिहास, पृ० २६।

[2] स्मिथ—भारत और सीलोन की शिल्प-कला का इतिहास, अध्याय ६, पृष्ठ १५९।

गुप्त-कालीन मंदिर
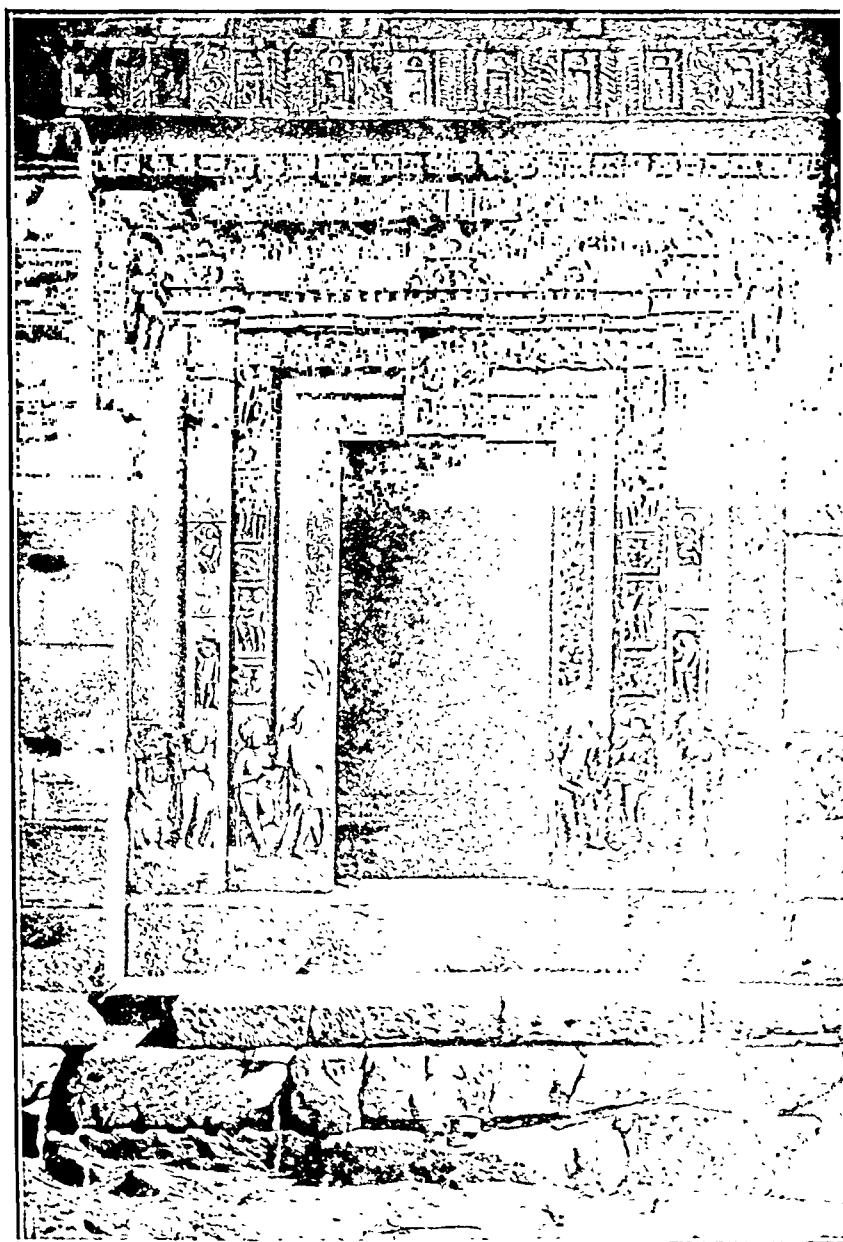
त्कृष्ट माने गये हैं।[1] इस युग में विवेक और कला के बीच घनिष्ट संबंध स्थापित किया गया। तक्षकों और चित्रकारों ने अपने आध्यात्मिक विचारों को रूप और रंग के द्वारा अभिव्यक्त करने में कोई त्रुटि नहीं की। इस समय की बुद्ध की प्रतिमाएँ जिनमें सौंदर्य का प्रशांत और गंभीर विचारों के साथ संमिश्रण किया गया है, जगत् को कला की कमनीय कृतियों में स्थान पाने योग्य हैं।

कलाकोविद सर जान मारशेल गुप्तसमय के मंदिरों की सादा और अकृत्रिम निर्माण-शैली और उनपर रचे हुए शिल्प की सजधज पर मुग्ध हैं। गुप्तकालीनकला में उस युग की विचार-स्फूर्ति—उसकी अभिनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा—का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। यह शिल्पशैली भारत की प्राचीन कला से ही विकसित हुई थी, जो अशोकयुग के बरहुत (मध्यभारत में) और साँची (भोपालराज्य में) के स्तूपों में पाई जाती है। इस की पच्चीकारी और सफ़ाई बड़ी उत्तम है। सर्वांगसुंदरता में इस की बराबरी करनेवाली वस्तु भारत में वा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती।[2]

गुप्त-सम्राटों के सिक्के

गुप्त-सम्राटों के भिन्न भिन्न प्रकार के सिक्कों के देखने से पता चलता है कि उनका अधिकार-काल भारतीय साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान

---

[1] कोडरिंगटन—प्राचीन भारत, पृ० ६०-६२।

[2] "Gupta art has been praised for its intellectuality. It would be better to treat it as the natural outcome of ancient Indian Art, with its vivid appreciation of form and pattern, and its love of the quick beat and rhythm of living things and of their poise and balance in repose."

"Its chisel-work and finish are excellent, and in fineness and accuracy it is unsurpassed in India or anywhere." Codrington, *Ancient India.*

और धर्म के अभ्युदय का महायुग होना चाहिए। उनके सोने के सिक्कों में भारतीय शिल्प का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। वे सिक्के बहुत प्रकार के हैं। उनपर भाँति भाँति की मूर्तियाँ और संस्कृत के सुंदर गद्य-पद्यात्मक लेख उत्कीर्ण हैं। भारत के प्राचीन इतिहास के निर्माण करने में प्राचीन राजवंशों के सिक्कों से बहुत सहायता मिलती है। भारत के प्राचीन सिक्कों के संबंध का साहित्य बहुत खोज से विद्वानों ने संग्रह करके रचा है। गुप्त राज-वंश के सिक्कों का क्रमबद्ध वर्णन विंसेंट स्मिथ, जोन एलन, रैप्सन आदि पुरातत्व-वेत्ताओं ने अपने ग्रंथों में विशदरूप से किया है। गुप्त-कालीन इतिहास के जिस जिस प्रसंग में हमें सिक्कों से सहायता मिलती है उसका यत्र तत्र हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। यहाँ पर गुप्तराजवंश के सिक्कों का पाठकों को सुस्पष्ट परिचय कराना परम आवश्यक है, क्योंकि उनमें कई एक विशेषताएँ हैं। उनमें सोने के सिक्के विशेष महत्त्व के हैं, क्योंकि उनपर गुप्त सम्राटों के अनेक कारनामे अंकित किये गए हैं। गुप्तवंश के संस्थापक श्रीगुप्त का अब तक कोई सिक्का नहीं मिला। घटोत्कचगुप्त के नाम का सोने का केवल एक सिक्का लेनिनग्रेड के अजायबघर में रखा है।[1] चंद्रगुप्त प्रथम के सोने के सिक्कों पर पहली ओर चंद्रगुप्त और उसकी स्त्री कुमारदेवी की मूर्ति और ब्राह्मी अक्षरों में 'चंद्रगुप्त' और 'श्रीकुमारदेवी' खुदा है। दूसरी ओर सिंह की पीठ पर बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति और 'लिच्छवयः' लिखा है।[2] सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने राज्य-काल में सोने के सिक्कों का भूरिशः प्रचार किया था। मुद्रातत्वविद् जोन एलन ने उस के सिक्कों को आठ भागों में विभक्त किया है:—

---

[1]आर० डी० बैनर्जी—प्राचीन मुद्रा।

[2]जोन एलन घटोत्कच और प्रथम चंद्रगुप्त के इन सिक्कों को उनके चलाये हुए नहीं स्वीकार करते।—गुप्त-मुद्राओं का सूचीपत्र, प्रस्तावना, पृ० ६५।
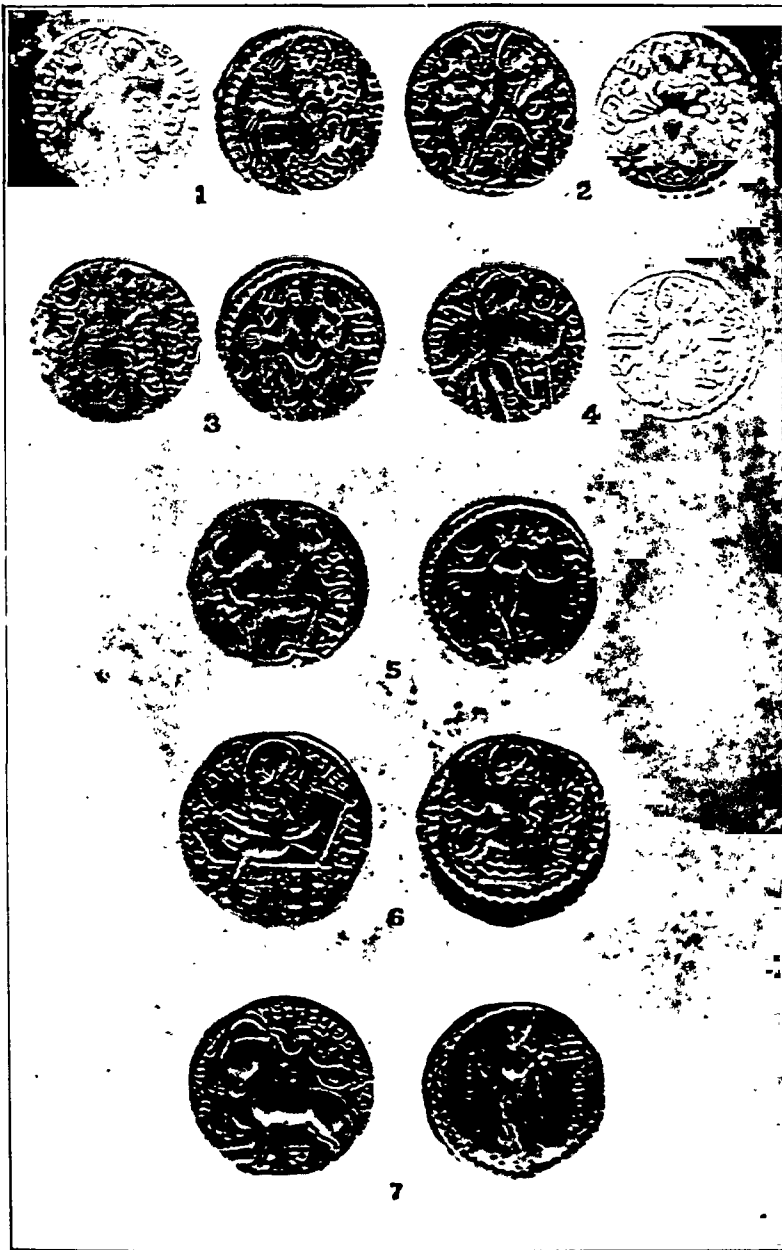
गुप्त-सम्राटों के सिक्के

(१) *गरुड़ध्वजांकित*—इन सिक्कों में टोपी, कोट, पायजामा और आभूषण पहने राजा की खड़ी मूर्ति बनी होती है। राजमूर्ति के बायें हाथ में ध्वजा और दाहिने हाथ में अग्निकुंड में डालने के लिये आहुति रहती है। इस ध्वजा पर गरुड़ बैठा होता है। दूसरी ओर सिंहासन पर बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति और 'पराक्रमः' लिखा है। पहली ओर राजमूर्ति के चारों ओर उपगीति छंद में "समरशत वितत विजयो जितरिपु रजितो दिवं जयति" लिखा रहता है। राजा के वाम हस्त के नीचे 'समुद्र' लिखा होता है।

सम्राट् समुद्रगुप्त के सिक्के

(२) *धनुर्धरांकित*—धनुष लेकर खड़े हुए राजा की मूर्ति वाले सिक्कों पर उसके बायें हाथ के नीचे

स
मु
द्र

और मूर्ति के चारों ओर 'अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति' लिखा रहता है।

(३) *परशुधरांकित*—इन सिक्कों पर पृथ्वीछंद में 'कृतांतपरशुर्जयत्य-जित राज जेता जितः'—लेख उत्कीर्ण रहता है। उलटी तरफ 'कृतांत परशुः'—लिखा रहता है।

(४) *काचांकित*—चौथे प्रकार के सिक्कों पर 'काच' और 'सर्व राजो-च्छेत्ता' लिखा है। राजमूर्ति के चारों ओर उपगीति छंद में 'काचो गाम-वजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति' लिखा होता है। मुद्रातत्वविद् इन सिक्कों को समुद्रगुप्त का ही मानते हैं, क्योंकि ये सिक्के समुद्रगुप्त के धनुर्धरांकित सिक्कों से बहुत बातों में मिलते जुलते हैं। 'सर्वराजोच्छेत्ता'—यह विशे-षण समुद्रगुप्त के नाम के साथ जुड़ा हुआ उसके वंशजों के शिला-लेखों में पाया जाता है। अतएव 'काच' समुद्रगुप्त का ही नामांतर होगा।

(५) *व्याघ्रवधांकित*—इन पर एक ओर 'व्याघ्र-पराक्रमः' और दूसरी ओर 'राजा समुद्रगुप्तः' लिखा है।

(६) *वीणांकित*—इन सिक्कों पर वीणा बजाते हुए राजा की मूर्ति है और दूसरी ओर आसन पर बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति है। इनपर 'महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तः' लिखा है।

(७) *आश्वमेधिक*—इस प्रकार के सिक्कों पर एक ओर पताकायुक्त यज्ञयूप में बँधे हुए यज्ञ के घोड़े की मूर्ति और दूसरी ओर हाथ में चँवर लिये प्रधान महिषी की मूर्ति और बाईं ओर एक शूल है। ऐसे सिक्कों पर उपगीति छंद में यह लिखा रहता है:—

"राजाधिराज पृथिवीमवित्वा
दिवं जयत्य प्रतिवार्य वीर्यः।"

इन के दूसरी ओर 'अश्वमेध पराक्रमः' लिखा रहता है।

(८) *विवाह-सूचक*—ये सिक्के प्रथम चंद्रगुप्त और कुमारदेवी के विवाह की स्मृति में समुद्रगुप्त ने चलाये थे। इनमें आभूषणों से सज्जित राजा और राणी खड़े होते हैं और राजा के एक हाथ में ध्वजा और दूसरे में विवाह-मुद्रिका होती है।[1]

सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के सिक्के

यद्यपि गुप्तवंशी नरेशों के सिक्के पिछले कुशनवंशी राजाओं के सिक्कों के ढंग पर बने थे तथापि उन सिक्कों में शिल्प का यथेष्ट कौशल मिलता है। इनमें राजा की सुन्दर मूर्ति, उसकी भावभंगी, साधारण सज-धज और रचना-चातुरी देखने योग्य हैं। गुप्तवंशियों के सोने के सिक्कों में भारतीय कला का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। द्वितीय चंद्रगुप्त के सिक्कों के विषय में मुद्रातत्वविद् जोन एलन का मत है कि उनकी सजधज में भी बहुत कुछ मौलिकता पाई जाती है। हिंदू रीति के अनुसार उनपर लक्ष्मीदेवी सिंहासन के बदले में पद्मासन पर बैठी हैं। उसके कुछ सिक्कों पर एक ओर घोड़े की पीठ पर राजा की मूर्ति और दूसरी ओर पद्मवन में बैठी हुई देवी की मूर्ति अंकित हैं। इन नये ढंग के सिक्कों का चंद्रगुप्त

[1]जोन एलन—गुप्त-मुद्राओं का सूचीपत्र, प्रस्तावना, पृ० ६५-७७।

चंद्रगुप्त के सिक्के

के उत्तराधिकारी कुमारगुप्त ने भी खूब अनुकरण किया। द्वितीय चंद्रगुप्त ने चाँदी और ताँबे के भी सिक्के चलाये थे। उसके धनुषवाणधारी राज-मूर्तियुक्त सुवर्ण सिक्कों पर 'देवश्री महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्तः' और 'श्री विक्रमः'—ये नाम और उपाधियाँ उत्कीर्ण रहती हैं। छत्र धारण किये हुए राजमूर्ति युक्त सिक्कों पर 'क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः' खुदा रहता है। उसके दूसरे प्रकार के सिक्कों पर सिंह से लड़ती हुई राज-मूर्ति अंकित है अथवा राजा की मूर्ति के सामने घायल होकर गिरते हुए वा भागते हुए सिंह की मूर्ति बनी रहती है। इनपर 'सिंह विक्रमः', 'सिंह चंद्रः' आदि राजा की उपाधियाँ लिखी होती हैं। सिंह को मारनेवाली मूर्तिवाले सिक्कों पर संस्कृत के सुंदर वंशस्थ छंद में यह लिखा रहता है:—

नरेंद्रचंद्रः प्रथित (श्रिया) दिवं
जयत्यजेयो भुवि सिंह विक्रमः।

अश्वारूढ़ राजमूर्ति वाले सिक्कों पर 'परमभागवत-महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्तः' और 'अजितविक्रमः' लेख खुदे रहते हैं।

द्वितीय चंद्रगुप्त के चाँदी के सिक्कों में दो विभाग मिलते हैं। उनमें क्षत्रपों के सिक्कों का बहुत कुछ अनुकरण देखने में आता है। दोनों विभागों में एक ओर राजा का मुख, यूनानी अक्षरों के चिह्न और वर्ष और दूसरी ओर गरुड़ की मूर्ति—गुप्त वंश का लांछन—और ब्राह्मी लिपि में 'परम भागवत महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्तः विक्रमादित्यः' अथवा 'श्री गुप्त कुलस्य महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त विक्रमांकस्य' लिखा मिलता है।

द्वितीय चंद्रगुप्त के सिक्कों के निरीक्षण से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि वह सम्राट् शरीर में सुदृढ़ और सुडौल था, उसे अपने बाहुबल का घमंड था, और सिंह के शिकार करने का उसे व्यसन था। उन सिक्कों पर उत्कीर्ण मूर्तियों और संस्कृत छंदों में लिखे लेखों से निर्विवाद सिद्ध है कि वह काव्य और कलाओं का प्रेमी था। उसे अपने नाम के साथ उच्च उपाधियां धारण करने का बड़ा शौक था। उस की मुद्राओं से ज्ञात

होता है कि उस ने 'विक्रमांक', 'विक्रमादित्य', 'श्रीविक्रम', 'अजित-विक्रम', 'सिंहविक्रम', 'महाराजाधिराज', 'नरेंद्रचंद्र', 'परमभागवत' आदि उपाधियाँ ग्रहण की थीं। उसके शासन-काल में प्रचलित सिक्के इतने अधिक और विविध प्रकार के हैं कि हमें इस में लेश भर भी संदेह नहीं कि उसका शासन शांतिमय और दीर्घकालीन हुआ होगा और उसकी प्रजा व्यापारद्वारा लक्ष्मी के उपार्जन में संलग्न होगी, क्योंकि व्यापार-विनिमय के लिये ही इतने अधिक सिक्कों का प्रचार अपेक्षित हुआ होगा। सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपनी प्रजा के रक्षण और भरण का पूरा पूरा आयोजन किया था यह बात न सिर्फ उसके प्रचुर मुद्रा-प्रचार से सूचित होती है, बल्कि चीनी-यात्री फाहियान के विश्वसनीय विवरण से तो बिल्कुल निर्विवाद सिद्ध है।
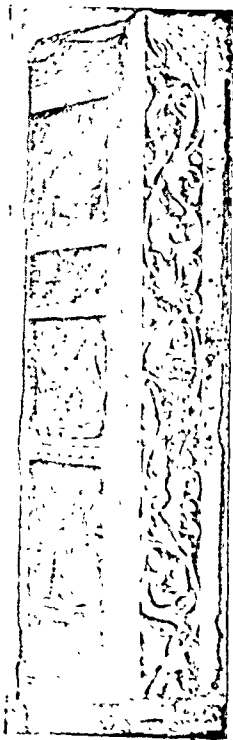
गुप्त-काल की शिल्पकला के नमूने

नवाँ अध्याय

गुप्त-काल में भारत की धार्मिक अवस्था

गुप्त-वंश के राज्यारंभ से ही भारत में बौद्ध-धर्म का धीरे धीरे ह्रास और ब्राह्मण-धर्म का बड़े वेग के साथ अभ्युत्थान होने लगा। तत्कालीन इतिहास में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। इस समय के जितने लेख मिलते हैं उनमें सबसे अधिक संख्या ब्राह्मणधर्मावलंबियों के लेखों की है। बौद्ध और जैन धर्मों का यत्किंचित् आभास कुछ थोड़े से ही शिला-लेखों में मिलता है। बौद्धधर्मसम्राट् अशोक और कनिष्क का आश्रय पाकर जिस वेग से बढ़ा था उसी वेग से राज्य का आश्रय न पाने पर वह घटने लगा। गुप्त-युग में वैदिक यज्ञ-यागादि का भी प्रचार बढ़ा। समुद्रगुप्त ने चिरकाल से न होनेवाला अश्वमेधयज्ञ बड़े समारोह से किया था। इस यज्ञ की दक्षिणा देने के लिये उसने सोने के विशेष प्रकार के सिक्के बनवाये, जिनकी पीठ पर 'अश्वमेधपराक्रमः' लिखा रहता है। उसके पौत्र कुमारगुप्त ने भी अश्वमेधयज्ञ किया था जिसके उपलक्ष्य में उसने 'अश्वमेधमहेंद्र' यह विरुद धारण किया था। द्वितीय चंद्रगुप्त, कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त 'परम भागवत' कहलाते थे जैसा कि उनके सिक्के और शिलालेखों से ज्ञात होता है। उदयगिरि (भेलसा) में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय के दो शिलालेख मिले हैं। एक शिला पर लेख के नीचे दो मूर्तियाँ हैं; एक द्वादशभुजा दुर्गा (चंडी) की और दूसरी चतु-र्भुज विष्णु की, जिनकी दो देवियाँ परिचर्या करती हुई दिखाई गई हैं। दूसरे शिलालेख में चंद्रगुप्त के सांधिविग्रहिक वीरसेन ने शिव की पूजा के लिये एक गुफा उत्सर्ग की थी यह लिखा है। कुमारगुप्त के समय में किसी

एक ध्रुवशर्मा ने स्वामिमहासेन (कार्तिकेय) के मंदिर में एक प्रतोली वनवाई थी। भिटारी के स्तंभ पर विष्णु (शार्गिन्) की प्रतिमा के स्थापित किये जाने और उसकी पूजा के लिये स्कंदगुप्त का एक गाँव दान करने का वर्णन है। गिरनार के शासक चक्रपालित ने चक्रभृत् विष्णु का मंदिर वनवाया था। गुप्तसमय के और भी अनेक शिलालेख हैं जिनमें विष्णु, सूर्य आदि देवताओं की पूजा के लिये मंदिर तथा ध्वजस्तंभ स्थापित किये जाने और पंच महायज्ञों के अनुष्ठान किये जाने का उल्लेख है। इन पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट विदित होता है कि ज्योंही वौद्ध धर्म का प्रभाव कम होने लगा त्योंही हिंदूधर्म ने वहुत वेग से उन्नति आरंभ की और वह वहुत विकसित तथा पल्लवित होने लगा।

व्राह्मण-धर्म के अभ्युत्थान के साथ साथ संस्कृत साहित्य की भी श्रीवृद्धि होने लगी। इस समय के सारे शिलालेख, ताम्रपत्र और मुद्राओं में संस्कृत भाषा का प्रयोग भारतवर्ष में सर्वत्र ही दृष्टिगत होता है। पहले वौद्धों ने संस्कृत का तिरस्कार कर पाली को अपनाया था। वुद्धदेव ने अपने सव उपदेश पाली भाषा में दिये थे। अशोक की धर्मलिपियाँ भी पाली में लिखी गई थीं। परंतु व्राह्मण-धर्म का प्रभाव धीरे धीरे गुप्त-समय के वहुत पूर्व से ही इतना व्यापक हो गया कि वौद्ध विद्वान भी संस्कृत में ही अपने ग्रंथ निर्माण करने लगे। अश्वघोष, नागार्जुन, वसुवंधु आदि वौद्ध विद्वानों ने पाली वा प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत का ही अधिक आदर किया। महाकवि अश्वघोष ने अपना वुद्धचरित नामक प्रसिद्ध महाकाव्य संस्कृत में ही लिखा। धीरे धीरे प्राकृत भाषा का ह्रास होने लगा और संस्कृत अपने पूर्ण ऐश्वर्य में दिखाई देने लगी। जैसा कि हम पूर्व कह चुके हैं, यह संस्कृत वाङ्मय का सुवर्ण युग था।

गुप्त-युग के धार्मिक जीवन में भक्ति का प्रवाह वड़े वेग से वह रहा था। प्राचीन व्राह्मण-धर्म तो भक्ति-प्रधान ही था। ईश्वर की उपासना, यज्ञयागादि का अनुष्टान तथा वर्ण-व्यवस्था आदि इस के मुख्य अंग थे। व्राह्मण और वौद्ध धर्मों में जो कई सदियों से विचार-संघर्ष हो रहा था

इस का परिणाम यह हुआ कि दोनों धर्मों में विचारों का इतना आदान-प्रदान हुआ, उनमें इतनी समानता बढ़ गई कि बौद्ध और हिंदू देवताओं में भेद करना कठिन हो गया। बौद्ध धर्म पर 'भागवतधर्म' का—भक्ति मार्ग का—व्यापकप्रभाव पड़ा जिसका पूर्ण आविर्भाव बौद्धों की महायान संप्रदाय में हुआ। जिस तरह प्राचीन वैदिक धर्म ही भिन्न भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन प्राप्त करता हुआ पौराणिकधर्म में परिणत हुआ उसी तरह बौद्धधर्म भी प्राचीन वेद-धर्म का विभिन्न परिवर्तन मात्र था—वेद के विचार-तरंगों का एक विभिन्न प्रवाह था। बौद्ध और हिंदू धर्मों के मौलिक विचार बहुत कुछ सामान्य थे, क्योंकि वे समान संस्कृति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। परंतु दोनों धर्मों में जो कुछ विभिन्नताएँ थीं वे धीरे धीरे परस्पर के विचार-संघर्ष से घटने लगीं और उनमें समानताएँ बढ़ने लगीं। प्रारंभिक बौद्ध-धर्म वेद के जटिल हिंसात्मक कर्मकांड का प्रतिवाद-रूप था। वह संन्यास-मार्ग-प्रधान था। वह धर्म सार्वजनिक था। उसमें जाति-पाँति के भेद न माने गये थे। ईश्वर की सत्ता तथा उपासना के विषय में बुद्धदेव उदासीन रहे। वैदिक यज्ञों की अपेक्षा उन्होंने शील, समाधि, प्रज्ञा इन त्रिविध यज्ञों को सर्वश्रेष्ठ माना। जब तक बुद्धदेव जीवित रहे तब तक उनके विश्वप्रेम और मैत्री-करुणा की आदर्शमूर्ति जनता का हृदय आकर्षित करती रही, किंतु उनके निर्वाणप्राप्त होने के पश्चात थोड़े ही दिनों में बौद्धों का शुष्क तथा निरीश्वर संन्यास-मार्ग लोगों को खटकने लगा। भक्ति और भगवान के लिये भारतीयों का हृदय छटपटाने लगा। स्वयं बौद्धों को भी इस बात का अनुभव हुआ और उन्होंने भक्ति-मार्ग का आश्रय लिया। उनमें भक्ति-संप्रदाय चल पड़ा जो 'महायान' कहलाता है। उसमें स्वयं बुद्ध को उपास्य-देव मानकर उनकी भक्ति करने का प्रतिपादन किया गया और बुद्ध की प्रतिमाएँ बनने लगीं। बौद्ध-धर्म में धीरे धीरे दो पंथ हो गये—एक हीनयान और दूसरा महायान। हीनयान में बुद्ध की प्रतिमा गढ़कर उनकी पूजा न की जाती थी। केवल 'बोधिवृक्ष', 'धर्मचक्र', 'स्तूप' आदि चिह्नों से हीनयान वाले बुद्धदेव का

स्मरण किया करते थे और उनकी समग्र प्रतिमा बनाकर देवता के रूप में न पूजते थे। किंतु महायान-मार्ग में भक्ति प्रधान थी। इसलिये बुद्ध की प्रतिमाएँ अनेक मुद्राओं में उपासना के लिये बनाई जाने लगीं। महायान में २४ अतीत बुद्ध, २४ वर्तमान बुद्ध और २४ भावी बुद्धों की कल्पना की गई और अनेक 'बोधिसत्व' और देवीदेवता माने गये। बोधिसत्व वे हैं जो भविष्य जन्मों में बुद्ध-पद के अधिकारी होंगे। '*षट्-पारमिता*' अर्थात् दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा इन छः गुणों के जीवन में उत्तरोत्तर विकास होने पर बोधिसत्व बुद्ध-पदवी पर पहुँच सकता है।[1] बुद्ध का निर्वाण तो एक लीलामात्र थी। वे सदा अमर रहते हैं और धर्म की संस्थापना के लिये—जीवलोक के निस्तार के लिये—युग युग में जन्म लेते हैं।[2] महायान सिद्धांत के अनुसार, 'प्रज्ञा' और 'करुणा' के साथ साथ भगवान् बुद्ध में तथा उनके पार्षद् बोधिसत्वों में निरतिशय भक्ति करना 'सम्यक्संबोधि' और 'निर्वाण' का साधन है। महायान पंथ के सिद्धांतों पर विचार करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन ब्राह्मण-धर्म और नवीन बौद्ध-धर्म में बहुत कुछ समानता आ रही थी और इस समय दोनों ही का परस्पर मेल हो रहा था। इन दोनों धर्मों को समन्वित करने में 'भागवत-धर्म' ही प्रधान कारण हुआ।

महायानपंथ के सब से बड़े समर्थक और प्रवर्तक कनिष्क के समय में नागार्जुन और अश्वघोष और गुप्त-काल में असंग और बसुबंधु हुए। इस पंथ का भारत और विदेशों में भी बड़ा प्रचार हुआ। चीनी यात्री

---

[1] निंदसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्
सदयहृदयदर्शित पशुघातम्।
केशव ! धृतबुद्धशरीर जय जय देव हरे।—गीतगोविंद।

[2] अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।—गीता।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।—गीता।

फ़ाहियान महायान का अनुयायी था। वह एक भावुक हिंदू की भाँति बुद्ध-प्रतिमा की पूजा किया करता था। उसने पाटलिपुत्र में तीन वर्ष तक ब्राह्मण-धर्म की भाषा संस्कृत का अध्ययन किया, क्योंकि महायानधर्म के ग्रंथ संस्कृत में थे। प्राचीन बौद्धधर्म का स्थान इस समय ब्राह्मण-धर्म और महायान ने ले लिया था और महायान भी ब्राह्मण-धर्म की उमड़ती हुई बाढ़ में तल्लीन हुआ चाहता था। चीनी यात्री के बौद्ध-विहारों के वर्णन को पढ़कर तो यह अनुमान होता है कि बौद्ध-धर्म इस समय उन्नति के पथ पर अग्रसर था, परंतु तत्कालीन साहित्य, शिलालेख, मुद्रा तथा अन्य स्मारक-चिह्नों से स्पष्ट पता लगता है कि बौद्ध-धर्म का क्रमशः ह्रास और हिंदूधर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि इस समय हो रही थी।

गुप्त-काल में यद्यपि ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म की भिन्न भिन्न संप्रदाय विद्यमान थीं, तथापि उनमें परस्पर किसी प्रकार का धार्मिक द्वेष-भाव नहीं पाया जाता। यद्यपि ब्राह्मण-धर्म इस समय राजधर्म बन चुका था, तथापि धार्मिक मतभेद के कारण बौद्ध और जैन लोगों को कुछ कष्ट उठाना पड़ा हो वा उनपर किसी तरह के अत्याचार हुए हों इसका गुप्त-कालीन इतिहास में कहीं भी संकेत नहीं है। प्रत्युत गुप्त-सम्राट् परम वैष्णव होते हुए भी अन्य धार्मिक संप्रदायों का बड़ा आदर करते थे। अन्यत्र बतलाया जा चुका है कि परम भागवत चंद्रगुप्त द्वितीय ने बौद्ध आम्रकार्दव और शैव वीरसेन और शिखरस्वामी को ऊँचे अधिकारों पर नियत किया था। कुमारगुप्त के समय के शिला-लेखों से प्रकट होता है कि शिव, विष्णु, बुद्ध, सूर्य तथा कार्तिकेय की पूजा के लिये लोग बिना किसी बाधा के प्रतिमाएँ और मंदिर बनवाते थे। गुप्तवंशी राजा तो धर्म के मामलों में अत्यंत सहिष्णु और पक्षपातशून्य थे, किंतु प्रजा में भी धार्मिक सहिष्णुता का भाव कूट-कूटकर भरा था। कहौम (ज़िला गोरख-पुर) के गुप्त संवत् १४१ (ई० स० ४६०) के शिला-लेख में पाँच तीर्थंकरों की मूर्तियाँ और एक स्तंभ बनवाने का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि इनका निर्माण करानेवाला मद्र नामक व्यक्ति ब्राह्मण, गुरु और यतियों

में भक्ति रखनेवाला था।[१] साँची के शिला-लेख में बौद्ध आम्रकार्दव ने भिक्षु-संघ को दान करते हुए कहा है कि जो मेरे चलाये हुए इस धर्म-कार्य में हस्तक्षेप करेगा उसे गो-ब्राह्मण की हत्या का पाप लगेगा।[२] इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस युग में ब्राह्मणों पर बौद्ध और जैन लोगों की इतनी श्रद्धा-भक्ति थी। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में धर्म के नाम पर प्रजा में परस्पर विद्वेष और युद्ध नहीं हुए। सम्राट् अशोकद्वारा उद्घोषित धार्मिक सहिष्णुता के परमसिद्धांत का पालन परवर्ती काल के राजा और प्रजा करते रहे—इस का इतिहास साक्षी है। राजा और प्रजा की ओर से जो धार्मिक संस्थाओं को दान दिये जाते थे उनमें किसी को हस्तक्षेप करने का कदापि अधिकार न होता था। इस प्रकार के अक्षयदान बौद्ध, ब्राह्मण आदि संप्रदायों के निमित्त शिला और ताम्र-पत्रों पर लिखवाये जाते थे।[३] 'देवदाय' अथवा 'धर्मदाय' की रक्षा करना, चाहे वह किसी भी संप्रदाय का हो, भारतवर्ष के राजा लोग अपना परम धर्म समझते थे।[४] भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास से यही प्रकट होता है कि इसके प्रत्येक युग में अनेक संप्रदायों के विद्यमान होते हुए भी प्रजा अपने अपने धर्माचरण में स्वतंत्र थी, धार्मिक विद्वेष का अभाव था और सभी पंथ परस्पर सहिष्णु थे।

---

[१] विलसद, मंकुवार, करमदंड और मंदसोर के शिला-लेख—

मद्रस्तस्यात्मजोऽभूद् द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान् यः।

—फ्लीट, गु० शि० सं० १५।

[२] तदेतत्प्रवृत्तं य उच्छिंद्यात् स गोब्रह्महत्यया संयुक्तो भवेत्—वही सं० ५।

[३] "एवमेषाक्षयनीवी आचंद्रार्कं शिलालेख्या"—सांची का शिलालेख, गु० सं० १३१ (ई० सं० ४५०)।

[४] "समस्त राजकीयानामहस्तप्रक्षेपणीयौ भूमिच्छिद्रन्यायेना चंद्रार्कार्णवसरिक्षिति-स्थिति पर्वत समकालीनौ उदकातिसर्गेण देवदायौ निसृष्टौ।"

"कृष्णसर्पा हि जायंते धर्म दायापहारकाः"। इं० एंटि० जिल्द ६ पृ० ९। प्रथम धरसेन का वल्लभी का ताम्रलेख।

दसवाँ अध्याय

गुप्त-युग का उत्तरार्ध

चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुमार-गुप्त प्रथम महेंद्रादित्य हुआ। उस का राज्यारोहण-काल ई० स० ४१३ से प्रारंभ होता है। गुप्तवंश का प्रताप-सूर्य कुमारगुप्त के समय में पराकाष्ठा पर था। उसके राज्य के अंतिम चरण से गुप्त-युग का उत्तरार्ध शुरू होता है। सम्राट् कुमारगुप्त के खिताब जो उसने धारण किये थे, बड़े शानदार हैं। दामोदरपुर (बंगाल) से मिले हुए गुप्त संवत् १२९ (ई० स० ४४८-४४९) के कुमारगुप्त के ताम्रपत्रों में उस का विरुद 'परम दैवत परमभट्टारक महा-राजाधिराज' मिलता है। उसने भी अश्वमेध-यज्ञ किया था, जिसके स्मारक सुवर्ण के सिक्के मिलते हैं। अपने पिता के सदृश वह भी 'परम भागवत' था। परम राजाधिराज, महेंद्र, सिंहमहेंद्र, अजित महेंद्र, महेंद्रादित्य, गुप्तकुल, व्योमशशी, अश्वमेध-महेंद्र आदि उपाधियों से विभूषित उसका नाम सिक्कों और शिलालेखों में मिलता है। उसके समय के सिक्के और शिला-लेख जिन स्थानों से मिले हैं उनसे पता चलता है कि कुमारगुप्त प्रथम का अधिकार तथा शासन सुराष्ट्र से बंगाल तक अखंड था। पुंड्रवर्धन-भुक्ति (उत्तरी बंगाल) उसके नियुक्त किये हुए शासक चिरातदत्त के अधीन थी (ई० स० ४४८-४४९)। ई० स० ४३५ के आस-पास राज-कुमार घटोत्कचगुप्त एरण (पूर्व मालवा) पर शासन करता था। कुमार गुप्त प्रथम का सामंत बंधुवर्मा ई० स० ४३७-३८ में दशपुर (पश्चिमी मालवा) का अधिकारी था। गुप्त संवत् ११७ (ई० स० ४३६) का एक लेख करमडांडे (फ़ैजाबाद ज़िले) से मिला है, जिसमें लिखा है कि

पृथ्वीसेन कुमारगुप्त प्रथम के समय 'महाबलाधिकृत' (सेनापति) था और पृथ्वीसेन का पिता शिखरस्वामी चंद्रगुप्त द्वितीय के समय मंत्री और कुमारामात्य था। उसके समय के संवत् वाले ६ शिलालेख मिले हैं जिनमें ५ गुप्त संवत् ९६ से १२९ (ई० स० ४१५-४४८) तक के और एक मालव (विक्रम संवत् ४९३=ई० स० ४३६) का है। उसके चाँदी के सिक्कों पर भी गुप्त-संवत् ११९ से १३६ (ई० स० ४३८-४५५ तक) के अंक लिखे मिलते हैं। उसके दो पुत्र स्कंदगुप्त और पुरगुप्त अनंतदेवी से उत्पन्न हुए थे। प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरांत उसका बड़ा बेटा स्कंदगुप्त सिंहासन पर बैठा था। कुमारगुप्त के जीवन के अंतकाल में भारतवर्ष पर पुष्यमित्र, हूण आदि विदेशी जातियों के आक्रमण आरंभ हुए। कथासरित्सागर की एक कथा में लिखा है कि एक समय उज्जैन में महेंद्रादित्य नामक राजा राज्य करता था। उसके समय में भारत पर म्लेच्छों ने अपना अधिकार बढ़ाना शुरू कर दिया—'म्लेच्छाक्रांतेच भूलोके'। परंतु महेंद्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य ने उनका नाश कर डाला और समस्त साम्राज्य को अपने वश में कर लिया।[1] इस कथा में यथार्थ घटनाओं का उल्लेख है। 'महेंद्रादित्य' कुमारगुप्त की और 'विक्रमादित्य' स्कंदगुप्त की उपाधियाँ थीं। स्कंदगुप्त के समय के भिटारी और जूनागढ़ के शिलालेखों से इस कथा की यथार्थता सिद्ध होती है।

स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का राज्य-काल गुप्त संवतयुक्त मुद्राओं और शिलालेखों के प्रमाणानुसार ई० स० ४५५ से ई० स० ४६७ तक रहा। कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्तसाम्राज्य पर घोर विपत्ति के बादल उमड़ पड़े। हूणों का टिड्डीदल इस देश पर टूट पड़ा। इन विदेशी शत्रुओं

---

[1] "मध्यदेशः ससौराष्ट्र सवंगाङ्गा च पूर्वदिक्।
सकश्मीरान् सकौवेरीकाष्ठश्च करदीकृता।
म्लेच्छ संघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे॥"
—कथासरित्सागर, भाग १८।

के भयानक आक्रमण से विचलित अपने वंश की राजलक्ष्मी को वीर-शिरोमणि स्कंदगुप्त ने तीन मास पृथ्वी पर सोकर और शत्रुओं को परास्त कर स्थिर किया। 'पिता के स्वर्गवासी होने पर शत्रुओं से आक्रांत अपने कुल की लक्ष्मी को अपने बाहुबल से शत्रुओं को पराजित कर पुनः प्रतिष्ठित करके, जैसे कृष्ण शत्रुओं को मारकर देवकी के पास आये थे वैसे स्कंदगुप्त विजय का संदेश लेकर अत्यंत हर्ष के कारण अश्रुपात करती हुई मा के पास आया।' शत्रुओं से स्वदेश की रक्षा कर स्कंदगुप्त ने अपने साम्राज्य के प्रांतों में गोप्ताओं को नियुक्त कर अपना शासन सुप्रतिष्ठित किया।[1]

"सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्त्रीन्-संचिंतयामास बहु प्रकारम्।"

जूनागढ़ के गुप्त संवत् १३६ (ई० स० ४५७-५८) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने सुराष्ट्र के शासन का भार पर्णदत्त को सुपुर्द कर रखा था। पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित गिरिनगर (गिरनार) का अधिकारी नियुक्त हुआ था जिसने सुदर्शन नामक झील का जीर्णोद्धार कराया था। गंगा और यमुना के बीच के देश पर (अंतर्वेदी) 'परम-भट्टारक महाराजाधिराज' स्कंदगुप्त का सामंत सर्वनाग शासन करता था। गुप्त संवत् १४६ (ई० स० ४६५-६६) के इंद्रपुर (ज़िला बुलंद-

---

[1] विचलित कुल लक्ष्मीस्तंभनायोद्यतेन।
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रिमासाः।
पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं।
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्रां।
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः।
हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।

भिटारी (गाज़ीपुर ज़िला) के स्तम्भ पर स्कंदगुप्त का लेख—फ़्लीट, गुप्त-ले० संख्या १३।

शहर) के ताम्रपत्र से विदित होता है कि उस समय तक भी गुप्त-साम्राज्य के मध्य के प्रदेशों में शांति विराजती थी। स्कंदगुप्त के सिक्कों पर 'परम भागवत', 'क्रमादित्य', 'विक्रमादित्य' 'सुधन्वी' आदि उपाधियाँ उत्कीर्ण रहती हैं।

अब सभी विद्वानों ने यह मान लिया है कि स्कंदगुप्त का राज्य-काल ई० स० ४६७ के लगभग समाप्त हुआ था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उसकी मृत्यु के उपरांत गुप्त-साम्राज्य के अंग भंग होने लगे। किंतु यह मत ठीक नहीं है,[१] क्योंकि शिलालेखों और साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि ई० स० की पाँचवीं, छठी और सातवीं सदियों में गुप्तवंश का राज्य इस देश से उच्छिन्न नहीं हुआ था। स्कंदगुप्त की मृत्यु के समय (ई० स० ४६७) से गुप्तवंशी राजाओं की परंपरा स्पष्ट समझ में नहीं आती। सारनाथ की दो बौद्धमूर्तियों पर गुप्त संवत १५४ और १५७ (ई० स० ४७३ और ४७६) के लेख हैं जिनसे पता चलता है कि ई० स० ४७३ में कुमारगुप्त (द्वितीय) का और ई० स० ४७६ में काशी के निकट बुधगुप्त का राज्य था।[२] सारनाथ के इन लेखों से स्पष्ट प्रकट होता है कि स्कंदगुप्त के उत्तराधिकारी क्रम से द्वितीय कुमार-

---

[१] नृपति गुणनिकेतः स्कंदगुप्तः पृथुश्रीः।
चतुरुदधिजलांतां स्फीत पर्यंत देशान्॥
अवनिमवनतारिर्यश्चकारात्मसंस्थाम्।
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या॥

—फ़्लीट, जूनागढ़ का शिलालेख सं० १४।

[२] वर्षशते गुप्तानां सचतुः पञ्चाशदुत्तरे भूमिम्।
शासति कुमारगुप्ते।
गुप्तानां समतिक्रांते सप्तपञ्चाशदुत्तरे।
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति॥
सारनाथ की बुद्ध-मूर्तियों पर खुदे हुए लेख।

गुप्त और बुधगुप्त हुए थे। परंतु भिटारी (जिला गाजीपुर) से मिली हुई राजमुद्रा पर गुप्तों का वंशानुक्रम भिन्न प्रकार से उल्लिखित है। उसमें प्रथम कुमारगुप्त के बाद स्कंदगुप्त का नाम नहीं है। भिटारी की राजमुद्रानुसार, प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् पुरगुप्त, नरसिंहगुप्त और द्वितीय कुमारगुप्त क्रम से राजा हुए। पुरगुप्त की माँ का नाम अनंतदेवी और स्त्री का नाम वत्सदेवी था। वत्सदेवी के गर्भ से उत्पन्न नरसिंहगुप्त अपने पिता की मृत्यु के उपरांत सिंहासन पर बैठा था। पुरगुप्त के नाम के सोने के कई सिक्के मिले हैं जिनपर उसका विरुद 'श्रीविक्रम' लिखा है। संभवतः 'प्रकाशादित्य' उपाधिवाले सिक्के इस पुरगुप्त के ही हों। नरसिंहगुप्त के सिक्कों पर उस का विरुद 'बालादित्यः' लिखा है। नरसिंहगुप्त बालादित्य के उपरांत उसका पुत्र द्वितीय कुमारगुप्त सिंहासन पर बैठा था। ऐसा अनुमान होता है कि भिटारी की राजमुद्रावाला द्वितीय कुमार गुप्त और सारनाथ की बौद्धमूर्तिवाला कुमारगुप्त एक ही हैं। यदि यह वंशानुक्रम ठीक है तो स्कंदगुप्त की मृत्यु के अनंतर छः वर्ष तक ही (ई० स० ४६७ से ४७३) पुरगुप्त और नरसिंहगुप्त ने राज्य किया होगा। कुमारगुप्त द्वितीय का भी शासन-काल बहुत स्वल्प था—ई० स० ४७३-४७६)। दामोदरपुर से मिले हुए कुमारगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारी बुधगुप्त के ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि वह भी अपने पूर्वजों के समान ही प्रतापशाली था। एरण (मध्यप्रदेश के सागर जिले में) के शिलालेख से पता चलता है कि गुप्त संवत् १६५ (ई० स० ४८४) में बुधगुप्त के शासनकाल में महाराज सुरश्मिचंद्र कालिंदी और नर्मदा नदियों के बीच के प्रदेश का पालन कर रहा था और वहाँ मातृविष्णु और उसके छोटे भाई धन्यविष्णु ने विष्णु का ध्वजस्तंभ बनवाया था। एरण के एक दूसरे शिलालेख से ज्ञात होता है कि महाराजाधिराज तोरमाण के राज्य के प्रथम वर्ष में मातृविष्णु की मृत्यु के पश्चात् उसके पूर्वोक्त छोटे भाई धन्यविष्णु ने भगवान् वराह का मंदिर बनवाया था। हम पहले कह चुके हैं कि ई० स० ४८४ में मातृविष्णु और धन्यविष्णु बुधगुप्त के आश्रितों

में थे। किंतु दूसरे एरण के लेख से मालूम होता है कि उसी धन्यविष्णु को अपने जीवन-काल में ही हूणों के राजा तोरमाण का सामंत बनना पड़ा। इससे अनुमान होता है कि गुप्तराज्य के पश्चिमी प्रांतों पर हूणों के हमले फिर होने लगे। बुधगुप्त के सिक्के गुप्त संवत् १८० (ई० स० ४९९) तक के मिले हैं। उसका राज्य बंगाल से मालवा तक फैला हुआ था, किंतु ऐसा मालूम होता है कि उसके अंतिम समय में हूणों की चढ़ाई गुप्तराज्य के पश्चिमी प्रांतों पर होने लगी थी। बुधगुप्त के पश्चात् भानुगुप्त गुप्त-सिंहासन पर बैठा। एरण के एक गुप्त सं० १९१ (ई० स० ५१०) के शिलालेख से मालूम होता है कि 'अर्जुन के समान वीर पराक्रमी श्री भानुगुप्त के साथ राजा गोपराज वहाँ गया और वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी पतिव्रता स्त्री उसके साथ सती हुई।' इस शिलालेख से भी यही सूचित होता है कि भारत के पश्चिम प्रदेश गुप्त-सम्राटों के हाथ से निकलकर हूण तोरमाण और उसके पुत्र मिहिरकुल के अधीन हो गये। परंतु मालवा पर हूणों का अधिकार अधिक काल तक नहीं रहा। मिहिरकुल का एक लेख ग्वालियर से मिला है जो उसके राज्य के १५ वें वर्ष का है। वघेलखंड में मझगाँव और खोह से मिले हुए गुप्त संवत् १९१ तथा गुप्त संवत् २०९ (ई० स० ५१० और ५२८) के महाराज हस्ती और उसके पुत्र संक्षोभ के ताम्रपत्रों में 'गुप्त नृप राज्य भुक्तौ श्रीमति प्रवर्धमान विजय राज्ये' उल्लिखित मिलता है। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि ई० स० ५२८ पर्यंत गुप्तवंश का अधिकार मध्य के प्रांतों पर बना रहा। बाण ने हर्षचरित्र में प्रभाकरवर्धन के समय तक (ई० स० ६००) मालवा का गुप्त-वंश के अधिकार में होने का उल्लेख किया है। परंतु इसमें तो संदेह नहीं कि भानुगुप्त के अंतिम समय में हूणों के हमलों से गुप्त-साम्राज्य हिल गया था और उसका ह्रास शुरू हो गया था। मालव संवत् ५८९ (ई० स० ५३२) के मंदसोर से मिले हुए शिलालेखों में मालवगण के अधिनायक 'जनेंद्र' यशोधर्मा का विजय-वृत्तांत लिखा है। उक्त लेखों का आशय यह है कि 'जो देश गुप्तराजाओं तथा हूणों के

अधिकार में नहीं आये थे उनको भी उसने अपने अधीन किया; लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी से महेंद्र पर्वत (पूर्वी घाट) तक और हिमालय से पश्चिमी समुद्रतट तक के स्वामियों को उसने अपना सामंत बनाया, और राजा मिहिरकुल ने भी उसके चरणों में सिर झुकाया।'[1] उक्त लेखों से स्पष्ट प्रकट होता है कि हूणों के आक्रमण से मालव-गण के वीर, विजिगीषु यशोधर्मा ने भारत की रक्षा की और अपने प्रखर प्रताप से गुप्त-वंश को निस्तेज कर दिया। छठी शताब्दी के मध्य भाग से गुप्त-वंश का प्रताप-सूर्य धीरे धीरे अस्ताचल की ओर बढ़ने लगा। गुप्तवंशियों का राज्य धीरे धीरे संकुचित होने लगा। उनके सामंत स्वतंत्र हो गये। उनके वंशजों का राज्य पालवंश के उदय होने तक मगध देश पर रहा। ईसा की सातवीं सदी के प्रारंभ होते ही उत्तरी भारत में वर्धनवंश का प्रताप बढ़ा। इस वंश के महाप्रतापी राजा हर्षवर्धन ने काश्मीर से आसाम तक और नेपाल से नर्मदा तक के सब देश अपने अधीन कर एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।

---

[1] या भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकल वसुधा क्रांति दृष्ट प्रतापै
नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपति मुकुटाध्यासनीयान् प्रविष्टा।
आलौहित्योपकंठात्तलवनगहनोपत्यकादा महेंद्रा
दागङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिन शिखरिणः पश्चिमादापयोधेः।
सामंतैर्यस्य बाहु द्रविण हृतमदैः पादयोरानमद्भि
श्चूडारत्नांशुराजि व्यतिकर शवला भूमिभागाः क्रियंते।
चूड़ा पुष्पोपहारैर्मिहिर कुलनृपेणाच्चितं पादयुग्मम्।
फ्लीट, गुप्तशिलालेख, सं० ३३, ३४, ३५।

द्वितीय परिशिष्ट

गुप्तों का वंश-वृक्ष

(१) महाराज श्रीगुप्त
|
(२) महाराज श्रीघटोत्कच
|
(३) महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त = कुमारदेवी
|
(४) समुद्रगुप्त पराक्रमांक = दत्तदेवी
|
(५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य = ध्रुवदेवी तथा कुबेरनागा
- (कुबेरनागा से) प्रभावतीगुप्ता
- (ध्रुवदेवी से):
  - (६) कुमारगुप्त महेंद्रादित्य = अनंतदेवी
    - घटोत्कचगुप्त
    - (७) स्कंदगुप्त क्रमादित्य[1]
    - (अनंतदेवी से):
      - (८) पुरगुप्त
        |
        (९) नरसिंहगुप्त (वालादित्य)
        |
        (१०) कुमारगुप्त द्वितीय
        } [2]
        |
        (११) बुधगुप्त
        |
        (१२) भानुगुप्त
  - गोविन्दगुप्त

---

[1] सिद्धम् । सर्वराजोच्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो धनदवरुणेंद्रांतकसमस्य कृतांतपरशोः न्यायागतानेकगोहिरण्य कोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुर्महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटोत्कच पौत्रस्य महा-

[फुटनोट [2] १५१ पृष्ठ पर देखिये ।]

राजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त पुत्रस्य लिच्छिविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयमप्रतिरथः परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीचंद्रगुप्तस्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तस्तस्य.... सुतोऽयम्......गुप्तवंशैकवीरः प्रथितविपुलधामा नामतः स्कंदगुप्तः ।

फ़्लीट, गुप्त शिलालेख, सं० १३ ।

[२]भिटारी की राजमुद्रा के अनुसार, प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् क्रम से पुरगुप्त, नरसिंहगुप्त तथा द्वितीय कुमारगुप्त उत्तराधिकारी हुए थे ।

तृतीय परिशिष्ट

रामगुप्त[1]

साहित्यिक जनश्रुतियों के आधार पर कुछ विद्वान यह मानने लगे हैं कि समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र रामगुप्त गद्दी पर बैठा, चन्द्रगुप्त द्वितीय नहीं। गुप्त-वंशावली में इस नवीन राजा का समावेश करना चाहिये अथवा नहीं—इस प्रश्न के हल करने के लिये तत्संबंधी साहित्यिक प्रमाणों की आलोचना करना आवश्यक है। सातवीं सदी में कविवर बाण ने स्वरचित हर्ष-चरित में लिखा है:—

"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।" (उच्छ्वास ६)। अर्थात् 'शत्रु के नगर में परस्त्री की कामना करनेवाले शकराजा को, स्त्री के वेष में छिपे हुए चंद्रगुप्त ने मार डाला।' हर्ष-चरित के टीकाकार शंकरार्य ने उक्त वाक्य की व्याख्या करते हुए लिखा है:—

शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः।

शंकरार्य की व्याख्यानुसार, शकों का आचार्य, चंद्रगुप्त के भाई की

---

[1]श्रीयुत राखालदास बैनर्जी—काशी हिंदू विश्वविद्यालय की नंदी व्याख्यानमाला तथा श्रीयुत अ० स० अल्टेकर—जर्नल बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जि० १४, पृ० २२३-२५३।

स्त्री ध्रुवदेवी पर आसक्त था और ध्रुवदेवी का वेष धारण कर चंद्रगुप्त ने उस शकपति को मार डाला। गुप्तकालीन शिलालेख तथा वैशाली की मुद्रा से पता चलता है कि महाराणी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) महाराजाधिराज चंद्रगुप्त द्वितीय की स्त्री और कुमारगुप्त और गोविंदगुप्त की माता थी। परंतु शंकरार्य के अनुसार ध्रुवदेवी चंद्रगुप्त के भाई की स्त्री थी। इससे अनुमान होता है कि चंद्रगुप्त ने अपने भाई की स्त्री ध्रुवदेवी को शकराजा से छुड़ाकर और अपने भाई को मारकर ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया हो। इस कथा की पुष्टि राष्ट्रकूट वंश के राजा प्रथम अमोघवर्ष के संजन ताम्रलेख के नीचे लिखे श्लोक से होती है।[1] उसमें एक दानवीर गुप्तवंशी राजा का उल्लेख है, परंतु उसका नाम नहीं है :—

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।
लक्षं कोटिमलेखयत् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः॥

'भाई को मार कर, राज्य और देवी को जिसने छीन लिया, जिसने लक्ष माँगने पर करोड़ लिखकर दे दिये, वह दीन गुप्तवंशी कलियुग में बड़ा दानी प्रसिद्ध हो गया।' उक्त श्लोक में यह व्यंग्य है कि भाई को मारकर उसके राज्य और स्त्री को छीनकर गुप्तवंशी राजा दानवीर प्रसिद्ध हुआ तो क्या हुआ!

मुद्राराक्षस के प्रणेता विशाखदत्त ने 'देवीचंद्रगुप्तम्' नामक नाटक इस कथा के आधार पर रचा था। वह नाटक अभी तक संपूर्ण नहीं मिला। उस नाटक के कुछ अवतरण प्रोफ़ेसर सिल्वन लेवी ने 'जर्नल एशियाटिक' में रामचंद्र और गुणचंद्र के नाट्यदर्पण में उद्धृत 'देवीचंद्रगुप्तम्' नाटक के अवतरण प्रकाशित किए थे। उन अवतरणों से भी उपर्युक्त कथानक की पुष्टि होती है।[2] इस नाटक से पता लगता है कि

---

[1] एपि० इं० ग्रंथ १८, पृ० २४८ शकाब्द ७९५।

[2] 'प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवी संप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेन अरिवधनार्थं यियासुः प्रतिपन्न ध्रुवदेवीनेपथ्यः कुमारचंद्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते।'

रामगुप्त नाम का एक कायर और अयोग्य राजा था, उसपर एक प्रबल शकराजा ने चढ़ाई की। रामगुप्त अपनी प्रजा का आश्वासन करने के लिये, अपनी पटराणी ध्रुवदेवी को कामुक शकराजा के पास भेजने को तत्पर हो गया, किंतु शूरवीर और साहसी चंद्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का वेष धारण कर स्त्रीवेषधारी सैनिकों को साथ ले शत्रु की छावनी में जाकर शकराजा को मार डाला।

पूर्वोक्त कथानकों को परस्पर मिलाकर पढ़ने से ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त ने अपने भीरु भ्राता रामगुप्त की, शकराजा को मारने के बाद, हत्या की हो और तत्पश्चात् ध्रुवदेवी से अपना विवाह कर लिया हो।[1] इस कथानक को हम कितने अंश तक ऐतिहासिक मान सकते हैं इसपर ध्यान देना आवश्यक है। यदि यह कथानक ऐतिहासिक सिद्ध हो तो रामगुप्त का समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय के बीच गुप्त-वंशावली में निवेश करना पड़ेगा। परंतु इस कथा की तथ्यता स्वीकार करने में अनेक शंकाएँ होती हैं। प्रथम शंका तो यह है कि यदि रामगुप्त समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी होता तो सरकारी शिलालेखों में जिनमें गुप्त-राजवंश की परंपरा स्पष्ट लिखी रहती है, रामगुप्त का भी निर्देश होता। गुप्त-काल के अनेक शिलालेख मिलते हैं। उनमें कुछ राजा के और कुछ प्रजा के हैं। दोनों प्रकार के शिलालेखों में जहाँ जहाँ गुप्तों की राजवंश-परंपरा वर्णित है, एक-सा ही क्रम देखने में आता है और उनमें रामगुप्त के उल्लेख न करने का कोई कारण समझ में नहीं आता। शिलालेखों में गुप्त-नरेशों की वंशावलियाँ उनके भिन्न भिन्न विरुदों समेत यथाक्रम लिखी गई हैं। उनमें कहीं तो रामगुप्त का उल्लेख होना चाहिये था। उन्हीं शिलालेखों में स्पष्ट लिखा है कि समुद्रगुप्तद्वारा चंद्रगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी चुना गया था।[2] गुप्त-कुल की यह परंपरागत रीति थी

---

[1] हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।—संजन ताम्रलेख, एपि० इं०।

[2] फ़्लीट—मथुरा का शिलालेख—सं० ४, स्कंदगुप्त का बिहार का शिला-

कि राजा अपने शासन-काल में ही अपना योग्यतम उत्तराधिकारी चुन लिया करता था। प्रयाग की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त का इसी प्रकार से उत्तराधिकारी बनाये जाने का उल्लेख है। उसने चंद्रगुप्त द्वितीय को अपना उत्तराधिकारी माना था—'तत्परिगृहीतः'। चंद्रगुप्त का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त चुना गया। अतएव, शिलालेखों में उसके नाम के साथ 'तत्पादानुध्यातः'—उसके चरणों का ध्यान करनेवाला—ऐसा विशेषण जोड़ा गया। ऐसा ही विशेषण स्कंदगुप्त के नाम के साथ मिलता है।[1] गुप्त-वंशावली के लेखक उक्त विशेषणों का विशेषरूप से प्रयोग कर यह सूचित करते हैं कि गुप्तवंश में राज्य-परंपरा पूर्वोक्त क्रमानुसार थी। अतएव, यह निर्विवाद सिद्ध है कि रामगुप्त गुप्तवंश के राजसिंहासन पर न बैठा था। गुप्तकालीन सिक्कों से भी रामगुप्त का पता नहीं लगता। प्रायः सभी गुप्त-राजाओं ने तरह तरह के सिक्के चलाये थे जो हमें पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हुए हैं। यदि रामगुप्त गुप्त-सम्राट् होता तो जैसे अधिक वा स्वल्प काल तक शासन करनेवाले अन्य गुप्त-राजाओं के सिक्के मिलते हैं वैसे ही उसके भी सिक्के मिलते। किसी भी गुप्तकालीन मुहरों पर उसका नाम नहीं मिलता है। तत्कालीन किसी भी ऐतिहासिक लेख वा प्रमाण से रामगुप्त का गुप्तसम्राट् होना सिद्ध नहीं होता। परवर्ती काल की कपोलकल्पित कथाओं के आधार पर इतिहास का निर्माण करना विद्वानों की दृष्टि में अत्यंत उपहासास्पद है।

लेख—सं० १२। भिटारी का स्तंभलेख—"महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रस्तत्परिगृहीतो महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्तः .....।"

[1] फ़्लीट—सं० १२,—'पितृपरिगतपादपद्मवर्ती'। भिटारी स्तंभलेख, सं० १३।

चतुर्थ परिशिष्ट

गुप्त-संवत्

भारतीय पुरातत्व संबंधी गवेषणा के इतिहास में विद्वानों को अमुक राजा वा राजवंश के काल-निर्णय में अत्यंत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। इतिहास का निर्माण सुनिश्चित तिथि-क्रम के आधार पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। कब, कहाँ, कैसे, क्यों आदि प्रश्न इतिहास के परिशीलन में प्रायः पूछे जाते हैं, किंतु जब हम किसी जाति के बहुत प्राचीन इतिहास की खोज करना शुरू करते हैं तब इनमें से दो ही प्रश्न—कब और कहाँ—ऐतिहासिक घटनाओं के संबंध में हैरान कर डालते हैं। भारतीय पुरातत्व की खोज में पहले इन दो प्रश्नों के हल करने में विद्वानों ने चिरकाल तक बड़ा ही श्लाघ्य परिश्रम किया है। उस श्रम का यह परिणाम है कि आज हम प्राचीन भारत का बृहत् इतिहास लिख सकते हैं। भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों में पूर्व काल में अनेक संवत् प्रचलित हुए थे जिन्हें विभिन्न समयों पर जुदे जुदे राजाओं ने स्थापित किए थे। इन का परस्पर संबंध न ज्ञात होने से भारत का तिथि-क्रम-युक्त शृंखलाबद्ध इतिहास का संकलन करना असंभव हो गया था। किंतु धन्य है उन विद्वानों के श्रम को, जिस के कारण हम अब प्राचीन भारत के तिथि-क्रम युक्त इतिहास की पोथी लिख सकते हैं।

यूनान के बादशाह सिकंदर का पंजाब पर आक्रमण का समय ई० स० पूर्व ३२६ भारत के प्राचीन इतिहास की प्रथम सुनिश्चित तिथि मानी गई है (The sheet-anchor of Indian Chronology)। इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद नंद-वंश का नाश और मौर्य-वंश का उदय

होता है। इस नये वंश का संस्थापक चंद्रगुप्त मौर्य था जिसका यूनान के इतिहासकारों ने 'सैंड्रोकोट्टोस' नाम से उल्लेख किया है और जिसे सिकंदर के सेनापति सेल्यूकस का समकालीन बतलाया है। चंद्रगुप्त मौर्य और 'सैंड्रोकोट्टोस' एक ही हैं यह महत्त्वपूर्ण गवेषणा, संस्कृत के विद्वान् और (पुरातत्वान्वेषण के लिये बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के संस्थापक) सर विलियम जोन्स ने की थी। इस से मौर्यराज-वंश का प्रारंभ-काल निश्चित हो गया। तदनंतर, शिलालेखों से पता लगा कि ज्ञात समय के एंटियोकस आदि पाश्चात्य यवनराजा चंद्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक के समकालीन थे।

उक्त प्रमाणानुसार मौर्य-वंश का तिथि-क्रम ठीक ठीक निश्चित हो गया और इसके साथ साथ पुराणों में वर्णित राजवंशों का काल-क्रम भी विश्वसनीय सिद्ध हुआ। चंद्रगुप्त मौर्य से लेकर आंध्रवंश तक का (ई० स० पूर्व ३२५ से ई० स० २५० के लगभग) भारत का शृंखलाबद्ध इतिहास हमें उपलब्ध हो गया। ईसा के चौथे शतक से छठे तक हमारे इतिहास की घटनाएँ कालक्रमानुसार निबद्ध करने में विद्वानों को अत्यंत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। कितने ही शिलालेखों में 'गुप्त-काल', और गुप्त-वंश की राज-परंपरा का स्पष्ट उल्लेख विद्वानों को मिला। अतएव, गुप्त-काल की प्रारंभिक तिथि को निर्धारित करना आवश्यक हुआ। यह संवत् गुप्तवंशी किस राजा ने चलाया—इस विषय का लिखित प्रमाण अब तक नहीं मिला। परंतु समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में प्रथम चंद्रगुप्त का विरुद 'महाराजाधिराज' लिखा रहने तथा उसके पौत्र और समुद्र-गुप्त के पुत्र द्वितीय चंद्रगुप्त के समय के गुप्त संवत् ८२ से ९३ तक के शिलालेखों के मिलने से विद्वानों का यह अनुमान है कि गुप्तवंश में पहले पहल प्रथम चंद्रगुप्त ही प्रतापी राजा हुआ और उस के राज्यारोहण-काल से यह संवत् चला। दादा और पौत्र के बीच तीन पूरी पीढ़ियों में ९३ वर्ष का अंतर युक्ति-संगत मालूम होता है। गढ़वा (ज़िला इलाहा-बाद) से मिले हुए लेख में 'श्रीचंद्रगुप्त राज्य संवत्सरे ८८' और कुमारगुप्त

के समय के लेख में 'श्रीकुमारगुप्तस्य अभिवर्धमान विजय राज्य संवत्सरे षण्णवते' अर्थात् ९६ लिखा है। इस से अनुमान होता है कि प्रथम चंद्र-गुप्त के ही प्रचलित किये हुए राज्य-संवत् का प्रयोग उसके उत्तराधि-कारी वंशधर करते रहे, जो आगे चलकर गुप्त-संवत् के नाम से प्रथित हो गया। यह संवत् लगभग ६०० वर्ष तक प्रचलित रहा और गुप्तवंश के नष्ट हो जाने पर भी काठियावाड़ में वल्लभी-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विंसेंट स्मिथ का मत है कि प्रथम चंद्रगुप्त ने विजयद्वारा प्रतिष्ठा पा लेने पर गुप्त-संवत् चलाया था, परंतु डाक्टर फ़्लीट और जोन एलन के मतानुसार गुप्त-संवत् अन्य संवतों की भाँति, राज्य-वर्षों में गणना की परिपाटी से बराबर उसके प्रयोग होते रहने पर क्रम से प्रचलित हो गया। अतएव, गुप्त-संवत् को प्रथम चंद्रगुप्त के राज्यारोहण के समय से प्रारंभ हुआ मानना चाहिये, न कि उसके महाराजाधिराज बनने के अभिषेक के समय से। हर्ष का संवत् भी उसके राज्यारोहण की तिथि (ई० स० ६०६) से गिना जाता था, न कि उस के राज्याभिषेक की तिथि से।[1]

डाक्टर फ़्लीट ने गुप्त-संवत् का प्रारंभ दिवस ई० स० ३२० की २६ फ़रवरी निर्धारित किया था। उनकी इस महत्त्वपूर्ण गवेषणा से भारत के इतिहास के परमप्रतापशाली गुप्तवंश का तिथि-क्रम सुनिश्चित हो गया। अलबेरुनी ने लिखा है कि गुप्त-संवत् शक संवत् से २४१ वर्ष बाद प्रारंभ हुआ था। गुप्तों के पीछे काठियावाड़ में वल्लभी के राज्य का उदय हुआ जिसके अस्त होने के पीछे वहाँवालों ने गुप्त-संवत् का ही नाम वल्लभी-संवत् रक्खा। इस वल्लभी-संवत् को भी अलबेरुनी शक संवत् के २४१ वर्ष पीछे शुरू हुआ मानता है। गुप्तकाल के विषय में उसका कथन है कि गुप्त लोग दुष्ट और पराक्रमी थे और उनके नष्ट होने

---

[1] जोन एलन—गुप्त-मुद्राओं का सूचीपत्र, प्रस्तावना, पृष्ठ २०।

फ़्लीट गु० इं०; भूमिका पृष्ठ २०,२१।

पर भी लोग उनका संवत् लिखते रहे। अनुमान होता है कि वल्लभ उन गुप्तों में से अंतिम था, क्योंकि वल्लभी संवत की नाईं गुप्त-संवत् का प्रारंभ भी शककाल से २४१ वर्ष पीछे होता है। "गुजरात के चौलुक्य अर्जुनदेव के समय के वेरावल (काठियावाड़) के एक शिलालेख में रसूल महम्मद संवत् (हिजरी सन्) ६६२, विक्रम संवत् १३२०, वल्लभी-संवत ९४५ और सिंह-संवत् १५१ लिखा है। इस लेख के अनुसार विक्रम संवत् और वल्लभी गुप्त-संवत् के बीच का अंतर (१३२०—९४५)=३७५ आता है, परंतु यह लेख काठियावाड़ का होने के कारण इसका विक्रम-संवत् १३२० कार्तिकादि है जो चैत्रादि १३२१ होता है जिससे चैत्रादि विक्रम-संवत् और गुप्त (वल्लभी)-संवत् का अंतर ३७६ आता है।"[1] अर्थात् गुप्त संवत् में ३७६ मिलाने से चैत्रादि विक्रम-संवत्, २४१ मिलाने से शक-संवत् और ३१९-२० मिलाने से ई० स० आता है। ई० स० १८८७ में, डाक्टर फ़्लीट की पूर्वोक्त महत्त्वपूर्ण गवेषणा के प्रकाशित होने के उपरांत गुप्त-संवत् के विषय में विद्वानों में बराबर वाद-विवाद चलता रहा, किंतु जब फ्रांस के विद्वान् एम० सिल्वन लेवी (M. Sylvain Levi) ने चीनी ग्रंथों के आधार पर समुद्रगुप्त को सिंहल (लंका) के राजा मेघवर्ण का समकालीन सिद्ध किया जो वहाँ ई० स० ३५२ से ३७९ तक शासन करता था, तब विद्वानों ने डाक्टर फ्लीटद्वारा स्थापित गुप्त-वंश के प्रारंभ-काल को प्रामाणिक स्वीकार किया।[2]

श्रीयुत के० बी० पाठक ने जैनग्रंथों और बुधगुप्त के लेखों के आधार पर गुप्त-काल और शक-संवत् का अंतर २४१ वर्ष का सिद्ध किया है।[3] अतएव, गुप्त-संवत् का प्रारंभ ई० स० ३१९-२० में हुआ यह अब निर्विवाद सिद्ध माना जाता है।

---

[1] गौ० ही० प्राचीन लिपिमाला—पृष्ठ १७५।
ए० ई० जिल्द ११, पृष्ठ २४२।

[2] विंसेंट स्मिथ—प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २१।

[3] इं० एँ० १९१७—पृ० २९२,२९३ (भंडारकरस्मारक ग्रंथ)।

पञ्चम परिशिष्ट

गुप्तयुग का तिथिक्रम

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
	२७१ के आस पास	महाराजगुप्त का राज्य-काल	
	२९० के निकट	महाराज घटोत्कच का समय	
	३०८ के लगभग	प्रथम चंद्रगुप्त का लिच्छिवि-कुल में कुमारदेवी से विवाह	
गुप्त संवत् का प्रथम वर्ष	३२०	प्रथम चंद्रगुप्त का राज्यारोहण	
९	३२८-३२९	समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक	
	३३०-३६ के निकट	आर्यावर्त की विजय-यात्रा	
	३४७-५० के लगभग	दक्षिणापथ की विजय-यात्रा	
	३५० के आस पास	अश्वमेध-यज्ञ	
	३६० के आस पास	सिंहल के राजा मेघवर्ण के राजदूत का समुद्रगुप्त की सभा में उपस्थित होना।	

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
	३८० के आसपास	द्वितीय चंद्रगुप्त का राज्यारंभ	
	३९५ के समीप	पश्चिम भारत की विजय	
८२	४०१	उदयगिरि का शिलालेख	
	४०५-४११	गुप्तसाम्राज्य में फ़ाहियान की यात्रा	
८८	४०७	गढ़वा का शिलालेख	
९०	४०९	पश्चिम भारत में प्रचलित शैली के चाँदी के सिक्कों का प्रचार	
९३	४१२	साँची का शिलालेख	
९४	४१५ के लगभग	कुमारगुप्त महेंद्रादित्य (१म) का राज्यारंभ	
	४१५	विलसर का शिलालेख	
	४१७	गढ़वा का शिलालेख	
११७	४३६	मंदसोर का शिलालेख सूर्य-मंदिर का निर्माण	मालव संवत् ४९३
१२१, १२४, १२८	४४०, ४४३, ४४७	चाँदी के सिक्कों पर उत्कीर्ण तिथियाँ	
१२९	४४८	चाँदी के सिक्के	
"	"	मनकुवार का शिलालेख	बुधमित्रद्वारा बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना
"	"	हूण जाति का ऑक्सस नदी के तटस्थ प्रांतों पर अधिकार	

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
१३०	४४९	चाँदी के सिक्के	
	४५० के आस पास	पुष्यमित्रों से युद्ध	
१३५, १३६	४५४, ४५५	चाँदी के सिक्के	
१३६	४५५	स्कंदगुप्त का हूणों से युद्ध	
१३७	४५६	गिरनार में सुदर्शन झील के बांध का जीर्णोद्धार	
१३८	४५७	वहाँ विष्णु-मंदिर की स्थापना	
१४१	४६०	कहौम (ज़िला गोरखपुर) का शिलालेख	
१४४, १४५	४६३, ४६४	चाँदी के सिक्के	
१४६	४६५	इंदौर का शिलालेख (ज़ि० बुलंदशहर)	
१४८	४६७	चाँदी के सिक्के	
		पुरुगुप्त | नरसिंहगुप्त बालादित्य |	पुरुगुप्त और नरसिंहगुप्त का राज्य-काल कदाचित् ४६७ और ४७३ के बीच रहा होगा।
१५४	४७३	कुमारगुप्त द्वितीय	'वर्षशते गुप्तानां सचतुः पंचाशदुत्तरे भूमिं । शासति कुमारगुप्ते'—सारनाथ का शिलालेख।

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
१५४	४७३	दशपुर (मालवा) में सूर्य-मंदिर का संस्कार	मालव संवत् ५२९
१५७	,,	बुधगुप्त	गुप्तानां समतिक्रांते सप्तपंचाशदुत्तरे। शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति ॥ (सारनाथ)
१६५	४८४	एरण (ज़िला सागर, मध्य-प्रदेश) का शिलालेख	शते पंचषष्ठ्यधिके वर्षाणां भूपतौ च बुधगुप्ते कालिंदी नर्मदयोर्मध्यं पालयति सुरश्मिचंद्रे ।
		परमदैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री बुधगुप्त का पुंड्रवर्धन-भुक्ति (उत्तर बंगाल) पर अधिकार	दामोदरपुर के ताम्रपत्र—एपि०इं०जि० १५, पृष्ठ १३४-१४१
१७५	४९५	बुधगुप्त के मयूरांकित चाँदी के सिक्के (संवत् समेत)	विजितावनिरवनिपतिः श्री बुधगुप्तो दिवं जयति—एलन, गु० मुद्रा—पृ० १५३
	५००, ५०२	हूण तोरमाण का मालवा पर अधिकार	
१९१	५१०	भानुगुप्त का एरण में युद्ध	
२१४	५३३	दामोदरपुर (बंगाल) का पाँचवाँ ताम्रपत्र	

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
	५०२, ५४२	मिहिरकुल[1]	
	५२८ के लगभग	यशोधर्म का मिहिरकुल को पराजित करना	[2]'चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणार्चितंपादयुगमम्'—फ्लीट, गु० शि० सं० ३३
	५३२	मंदसोर का यशोधर्म का स्तंभलेख	

[1] अथ म्लेच्छगणा कीर्णे मंडले चंडवेष्टितः।

[2] तस्यात्मजोऽभून्मिहिरकुलः कालोपमः नृपः ॥—राजतरंगिणी १।

छठा परिशिष्ट

[१]

प्रयाग के स्तंभ पर समुद्रगुप्त की विजय-प्रशस्ति

य: कुल्यै: स्वै······················आतस············यस्य (?)

···॥१॥

पुंव (?)············त्र······स्फारद्व (?)······क्ष: स्फुटोद्ध्वंसित

·········प्रवितत···॥२॥

यस्य प्रज्ञानुषंगोचित सुखमनस: शास्त्रतत्वार्थभर्तुः

[— —] स्तब्धो [˘ — — ˘] नि [˘ ˘ ˘ ˘ —] नोच्छ्रि [— ˘ — —]।

सत्काव्य श्री विरोधान् बुधगुणितगुणाज्ञाहतानेव कृत्वा

विद्वल्लोके वि [— —] स्फुटवहुकविता कीर्तिराज्यं भुनक्ति ॥३॥

आर्य्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभि:

सभ्येपूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षित:।

स्नेहव्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा

य: पित्राभिहितो निरीक्ष्यनिखिलाम् पाह्येमुर्व्वीमिति ॥४॥

दृष्ट्वा कर्म्माण्यनेकान्यमनुज सदृशान्यद्भुतोद्भिन्नहर्षा

भावैरास्वादय [— ˘ ˘ ˘ ˘ — — ˘ — —] केचित्।

वीर्य्योत्तप्ताश्च केचिच्छरणमुपगता यस्यवृत्ते प्रणामे

प्यार्त्ते (१) [— — ˘ — — ˘ ˘ ˘ ˘ ˘ — — ˘ — — ˘ — ˘] ॥५॥

संग्रामेषु स्वभुजविजिता नित्यमुच्छापकाराः
श्वः श्वो मानप्र [ˇ ˇ ˇ ˇ — — ˇ — — ˇ — —]।
तोषोत्तुंगैः स्फुट बहुरस स्नेह फुल्लैर्मनोभिः
पश्चात्तापं व [ˇ ˇ ˇ ˇ — — ˇ] म म् (?) स्या द्वस (?) त्तम् ॥६॥

(१) जो······अपने कुल वालों से······जिस का

(२) जिस का

(३) जिस ने······अपने धनुष्टंकार से···········छिन्न भिन्न किया··· ···········विध्वंस किया···········फैलाया···········;

(४-५) जिस का मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था, जो शास्त्र के तत्वार्थ का समर्थन करने वाला था;·············सुदृढ़ता से स्थित

(६) ······जो सत्कविता और लक्ष्मी के विरोधों को विद्वानों के गुणित गुणों की आज्ञा से दबा कर (अब भी) बहुतेरी स्फुट कविता से (मिले हुए) कीर्ति-राज्य को भोग रहा है।

(७-८) जिस को उस के समान कुलवाले (ईर्ष्या से) म्लान मुखों से देखते थे, जिस के सभासद् हर्ष से उच्छ्वसित हो रहे थे, जिस के पिता ने उस को रोमांचित होकर यह कहकर गले लगाया कि तुम सचमुच आर्य हो, और अपने चित्त का भाव प्रकट करके स्नेह से चारों ओर घूमती हुई, आँसुओं से भरी, तत्व के पहचानने वाली दृष्टि से देख कर कहा कि इस अखिल पृथ्वी का इस प्रकार पालन करो।

(९) जिस के अनेक अमानुष कर्मों को देख कर···········कुछ लोग अत्यंत चाव से आस्वादन कर अत्यंत सुख से प्रफुल्लित होते थे।

(१०) और कुछ लोग उस के प्रताप से संतप्त होकर उस की शरण में आकर उस को प्रणाम करते थे··········;

(११) और अपकार करने वाले जिस से संग्रामों में सदा विजित होते थे ······कल और कल······मान

(१२) आनंद से फूले हुए और बहुत से रस और स्नेह के साथ उत्फुल्लमन से……पश्चात्ताप करते हुए……वसंत में

उद्वेलोदितबाहुवीर्य्यरभसादेकेन येन क्षणा—
दुन्मूल्या च्युतनागसेन ग [˘ ˘ — — — ˘ — — ˘ —]
दंडैग्राहयतैव कोटकुलजम्पुष्पाह्वये क्रीड़ता
सूर्य्येते [˘ ˘ — ˘ —] तट [˘ — — — ˘ — — ˘ —] ॥७॥

धर्म्म प्राचीरबंधः शशिकरशुचयः कीर्त्तयः सप्रताना
वैदुष्यं तत्त्वभेदिप्रशम [˘ ˘ ˘] डकु [—] य क [˘] मु [?] त्
[— ˘] तार्थम् ।
अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यम्
कोनु स्याद्योऽस्य न स्याद् गुणमतिविदुषां ध्यानपात्रम् य एकः ॥८॥

तस्य विविधसमरशतावतरण दक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबंधोः पराक्रमांकस्य परशुशरशंकु शक्तिप्रासासितोमरभिंदिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढ़ाकुलव्रणशतांकशोभासमुदयोपचितकांततरवर्म्मणः कौशलकमहेंद्रमाहाकांतरकव्याघ्रराज कौरालकमंटराजपैष्टपुरकमहेंद्र गिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तैरंडपल्लकदमन कांचेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराज वैंगेयकहस्तिवर्म्म पालक्ककोग्रसेन दैवराष्ट्रककुबेर कौस्थलपुरकधनंजयप्रभृति सर्व्व दक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रह जनित प्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य रुद्रदेव मतिलनागदत्तचंद्र वर्म्मगणपतिनाग नागसेना च्युतनंदिबल वर्म्माद्यनेकार्य्यावर्त्तराजप्रसभोद्धारणोद्वृत्तप्रभावमहतः परिचारकीकृत सर्वाटविकराजस्य समतटडवाक कामरूपनेपाल कर्तृपुरादि प्रत्यंत नृपति-

(१३) जिस ने सीमा से बढ़े हुए अपने अकेले ही बाहुबल से अच्युत और नागसेन को क्षण में जड़ से उखाड़ दिया……

(१४) जिस ने कोटकुल में जो उत्पन्न हुआ था उस को अपनी सेना से पकड़वा लिया और पुष्प नाम के नगर को खेल में स्वाधीन कर लिया, जब कि सूर्य…………तट……

(१५) (जिस के विषय में यह कहा जाता है) धर्म के बाँधे हुए परकोटे के समान, जिस की कीर्ति चंद्रमा के किरणों की तरह निर्मल और चारों ओर छिटक रही थी, जिस की विद्वत्ता शास्त्र के तत्त्व तक को पहुँच जाती थी, और······;

(१६) जिसने सूक्तों (वेदमंत्रों) का मार्ग अपना अध्येय बना लिया था और उसकी ऐसी कविता थी जो कवियों की मति के विभव का उत्सारण (प्रकाश) करती थी।······ऐसा कौन गुण था जो उसमें न था; गुण और प्रतिभा के समझने वाले विद्वानों का वह अकेला ध्यानपात्र था।

(१७-१८) विविध सैकड़ों समरों में उतरने में दक्ष, अपने भुजबल का पराक्रम ही जिसका अकेला साथी था, जो पराक्रम के लिये विख्यात था, और जिसका फरसे, बाण, शंकु, शक्ति, प्रास, तलवार, तोमर, भिंदिपाल, नाराच, वैतस्तिक आदि शस्त्रों के सैकड़ों घावों से सुशोभित और अतिशय सुंदर शरीर था।

(१९-२०) और जिसका महाभाग्य, कौसल के राजा महेंद्र, महाकांतार के व्याघ्रराज, कौराल के मंत्रराज, पिष्टपुर के महेंद्र, गिरिकौट्टूर के स्वामिदत्त, एरंडपल्ल के दमन, कांची के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगी के हस्तिवर्मा, पालक के उग्रसेन, देवराष्ट्र के कुबेर और कुस्थलपुर के धनंजय आदि सारे दक्षिणापथ के राजाओं के पकड़ने और फिर उन्हें मुक्त करने के अनुग्रह से उत्पन्न हुए प्रताप के साथ मिला हुआ था।

(२१) और जिसने रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चंद्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नंदी, वलवर्मा आदि आर्यावर्त के अनेक राजाओं को वलपूर्वक नष्ट कर अपना प्रभाव वढ़ाया और सारे जंगल के राजाओं को अपना चाकर वनाया।

(२२) जिसका प्रचंड शासन, समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि सीमांत प्रदेशों के राजा और मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक,

भिर्मालवार्जुनायन यौधेयमाद्रकाभीर प्रार्जुनसनकानीक काक खरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमन परितोपितप्रचंडशासनस्यानेकभ्रष्ट राज्योत्सन्न-राजवंशप्रतिष्ठापनोद्भूत निखिलभुवनविचरण शांतयशसः दैवपुत्रशाहिशाहानु-शाहीशक मुरुंडैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदन कन्योपायनदान गरुत्मदंकस्वविषय भुक्तिशासनयाचनाद्युपाय सेवा कृतबाहुवीर्य्यप्रसरणधरणिबं-धस्य पृथिव्याम प्रतिरथस्य सुचरितशतालंकृतानेकगुण गणोत्सिक्तिभिश्चरणतलप्रमृ-ष्टान्यनरपतिकीर्त्तेः साध्वसाधूदयप्रलयहेतु पुरुपस्याचिंत्यस्य भक्त्यवनतिमात्र-ग्राह्यमृदुहृदयस्यानुकम्पावतोऽनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः कृपणदीनानाथातुरजनोद्ध-रणमंत्रदीक्षाद्युपगत मनसः समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनदवरुणेंद्रांत-कसमस्य स्वभुजबलविजितानेकनरपतिविभवप्रत्यर्पणानित्यव्यापृतायुक्तपुरुपस्य निशितविदग्धमतिगांधर्वललितैर्व्रीडित त्रिदशपति गुरुतुम्बुरु नारदादेर्विद्वज्जनोप-जीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य सुचिरस्तोतव्यानेकाद्भु-तोदार चरितस्य लोकसमयक्रियानुविधानमात्रमानुपस्य लोकधाम्नो देवस्य महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराजश्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्याम् कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्र-गुप्तस्य सर्व्वपृथ्वी विजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितला कीर्तिमितस्त्रिदशपति भवनगमनावाप्त ललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः ॥ यस्य

(२३-२५) आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खर्परिक आदि सब जातियाँ, सब प्रकार के कर देकर, आज्ञा मान कर और प्रणाम करने के लिये आकर, पूरा करते थे, जिसका शांत यश, युद्ध में भ्रष्ट राज्य से निकाले हुए अनेक राजवंशों को फिर प्रतिष्ठित करने से भुवन में फैला हुआ था, और जिसको दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शक, मरुंड, सैंहलक आदि सारे द्वीपों के निवासी आत्मनिवेदन किये हुए थे, अपनी कन्याएँ भेट में देते थे, अपने विषय-भुक्ति के शासन के लिये गरुड़ की राजमुद्रा से अंकित फरमान माँगते थे। इस प्रकार की सेवाओं से जिसने अपने बाहुबल के प्रताप से समस्त पृथ्वी

को बाँध दिया था, जिसका पृथ्वी में कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। जिसने सैकड़ों सच्चरितों से अलंकृत, अपने अनेक गुणगणों के उद्रेक से अन्य राजाओं की कीर्तियों को अपने चरणतल से मिटा दिया था, जो अचिंत्य पुरुष की भाँति साधु के उदय और असाधु के प्रलय का कारण था, जिस का कोमल हृदय भक्ति और प्रणतिमात्र से वश होजाता था, जिस ने लाखों गौएँ दान की थीं,

(२६) जिस का मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुर जनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह का साक्षात् जाज्वल्यमान स्वरूप था, जो कुबेर, वरुण, इंद्र और यम के समान था, जिस के सेवक अपने भुजबल से जीते हुए राजाओं के विभव को वापिस देने में लगे हुए थे।

(२७) जिसने अपनी तीक्ष्ण और विदग्ध बुद्धि और संगीत-कला के ज्ञान और प्रयोग से इंद्र के गुरु काश्यप, तुंबुरु, नारद आदि को लज्जित किया था, जिसने विद्वानों को जीविका देनेयोग्य अनेक काव्य कृतियों से अपना कविराज-पद प्रतिष्ठित किया था, जिसके अनेक अद्भुत, उदार चरित्र चिरकाल तक स्तुति करने के योग्य थे।

(२८) जो लोकनियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिये ही मनुष्य-रूप था, किंतु लोक में रहने वाला देवता ही था। जो महाराज श्रीगुप्त का प्रपौत्र, महाराज श्रीघटोत्कच का पौत्र और महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त का पुत्र था।

(२९) जो लिच्छिवि-कुल का दौहित्र था, महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न था उस महाराजाधिराज समुद्रगुप्त की सारी पृथ्वी के विजय-जनित अभ्युदय से संसार भर में व्याप्त तथा यहाँ से इंद्र के भवनों तक पहुँचने में ललित और सुखमय गति रखनेवाली कीर्ति बतलानेवाला

प्रदानभुजविक्रमप्रशमशास्त्र वाक्योदयै—
रूपर्य्यपरिसंचयोच्छ्रितमनेकमार्गयशः।

पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्जटांतर्गुहा—

निरोध परिमोक्ष शीघ्रमिव पांडु गाङ्ग पयः ।

एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारकपादानां दासस्य समीप परिसर्प्पणानुग्रहोन्मीलितमेतः खाद्यटप्पाकिकस्य महादंडनायकध्रुवभूतिपुत्रस्य सांधिविग्रहिक कुमारामात्य महादंडनायक हरिषेणस्य सर्वभूतहित सुखायास्तु ॥ अनुष्ठितंच परमभट्टारकपादानुध्यातेन महादंडनायकतिल भट्टकेन ।

पृथ्वी की बाहु के समान यह ऊँचा स्तंभ है ।

(३०) जिसका यश उसके दान, भुजविक्रम, प्रज्ञा और शास्त्र-वाक्य के उदय से ऊपर ऊपर अनेक मार्ग से बढ़ता हुआ

(३१) तीनों भुवनों को पवित्र करता है । पशुपति (महादेव) की जटाजूट की अंतर्गुहा में रुक कर निकलने से वेग से वहते हुए गंगा जल की भाँति,

(३२–३३४) यह काव्य उन्हीं स्वामी के चरणों के दास के, जिनके समीप रहने के अनुग्रह से जिसकी मति उन्मीलित हो गई है, महादण्डनायक ध्रुवभूति के पुत्र (खाद्यत्पाकिक) सांधिविग्रहिक, कुमारामात्य महादंडनायक हरिषेण का रचा हुआ सब प्राणियों के हित और सुख के लिये हो ।

(३५) परमभट्टारक के चरणों का ध्यान करनेवाले महादंडनायक तिल भट्टक ने इसको अनुष्ठित किया ॥

[२]

समुद्रगुप्त का एरण का शिलालेख

[— — ˇ — ˇ ˇ — ˇ] सुवर्णदाने

[— —] रितानृपतयः पृथुराघवाद्याः ॥ २ ॥

[— —] बभूव धनदान्तकतुष्टि कोप

तुल्यः [ˇ — ˇ] म नयेन समुद्रगुप्तः ।

[— —] ष्य पार्थिवगणस्सकलः पृथिव्याम्
[— —] स्वराज्य विभव धुतमास्थितोऽभूत् ॥ ३ ॥

[— —] न भक्तिनयविक्रम तोपितेन
योराजशब्द विभवैरभिषेचनाद्यैः ।
[— —] नितः परमतुष्टि पुरस्कृतेन
[— —] वो नृपतिरप्रतिवार्य्यवीर्य्यः ॥ ४ ॥

[— —] स्य पौरुष पराक्रमदत्तशुल्का
हस्त्यश्वरत्नधनधान्य समृद्धियुक्ता ।
[— —] गृहेषु मुदिता वहुपुत्रपौत्र—
सङ्क्रामणी कुलवधुः व्रतिनी निविष्टा ॥ ५ ॥

यस्योर्जितं समरकर्म्म पराक्रमेद्धम् ।
[— —] यशः सुविपुलं परिवम्भ्रमीति ।
[— —] णियस्य रिवपश्च रणोर्जितानि
स्वप्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति ॥ ६ ॥

.........सुवर्ण का दान करने में

(जो).........पृथु, राघव आदि राजाओं से (बढ़ गया) । २ ।

क्रोध और प्रसन्नता में क्रम से यमराज और कुबेर के समान समुद्रगुप्त हुआ ।

.........नीति से.........

पृथ्वी में समस्त राज-समुदाय को जिस ने परास्त कर उन्हें अपनी राज्यलक्ष्मी से वंचित किया । ३ ।

जो.........भक्ति, नीति, पराक्रम से परितुष्ट

जो अभिषेक आदि राजपदवी के अनुकूल विभवों से—परमसंतोष के साथ वह राजा था जिस की वीरता अप्रतिवार्य थी । ४ ।

जिस ने एक पतिव्रता कुलवधू से विवाह किया था

जो हाथी, अश्व, रत्न, धन, धान्य से समृद्धिशालिनी थी—

राजभवनों में जो सुखी थी, जो बहुत से पुत्र-पौत्रों के साथ हिरती फिरती थी। ५।

जिसके महान युद्ध के कर्म (कारनामे) पराक्रम से चमकते हुए थे, जिस का सुविपुल यश चारों ओर परिभ्रमण कर रहा था, जिसके शत्रु (उस के) रण के ऊर्जित कर्मों को स्वप्न के अवकाशों में स्मरण कर भयभीत हो जाया करते हैं। ६।

[— —ˇ —ˇˇˇ —ˇˇ —ˇ — —]

[—] स्तः स्वभोगनगरैरिकिण प्रदेशे।

[— —ˇ —ˇˇˇ —ˇˇ —ˇ — —]

संस्थापितः स्वयशसः परिवृंहणार्थम्॥ ७॥

[— —ˇ —ˇˇˇ —ˇˇ —ˇ — —]

[— —ˇ] वो नृपतिराहयदा [ˇ — —]॥

....

एरिकिण के प्रदेश में अपने उपभोग के नगर में

....

अपने यश के विस्तार के लिये संस्थापित

.........जब राजा ने कहा......

[शेष शिलालेख नष्टभ्रष्ट हो गया है।]

[३]

द्वितीय चंद्रगुप्त के राज्यकाल का उदयगिरि की गुफा का शिलालेख। गुप्त-संवत् ८२

सिद्धम् संवत्सरे ८०—२ आषाढ़ मास शुक्लैकादश्याम्। परमभट्टारक महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त पादानुध्यातस्य महाराजच्छगलगपौत्रस्य महाराज विष्णुदास पुत्रस्य सनकानिकस्य महाराज......द (?) धलस्यायं देय धर्मः॥

सिद्धम्! संवत्सर में ८०+२ आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की एकादशी में परम आदरास्पद (भट्टारक) महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त के चरणों का ध्यान करनेवाले महाराज विष्णुदास का पुत्र और महाराज छगलग का पौत्र, सनकानिकों के महाराज...ढ़ल का यह धर्मकार्य है।

[४]

दिल्ली के समीप मेहरौली की कुतुबमीनार के पास लोहे के स्तंभ पर उत्कीर्ण सम्राट् चंद्र की विजय-प्रशस्ति

यस्योद्वर्तयतः प्रतीप मुरसा शत्रून्समेत्यागतान्
वंगेष्वाहववर्तिनो ऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिंधोर्जिता वाह्लिकाः
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलर्दक्षिणः ॥१॥

खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतिर्गामाश्रितस्येतराम्
मूर्त्या कर्म जितावनीं गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ।[1]
शांतस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्
नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥२॥

प्राप्तेन स्वभुजार्जितंच सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ।
चंद्राह्वेन समग्र चंद्र सदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता

---

[1] लोहस्तंभ पर खोदी हुई इस पंक्ति का चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के कुछ सिक्कों पर अंकित लेख से मिलान करने पर एकसा ही अर्थ प्रकट होता है। 'क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवंजयति विक्रमादित्यः'—अर्थात् पृथ्वी को जीत कर यज्ञादि कर्मों से विक्रमादित्य ने स्वर्ग को जीता है यह सिक्कों पर लिखा रहता है। बहुत संभव है कि उक्त पंक्ति में विक्रमादित्य के प्रथित चरित्र का संकेत हो॥

तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिम् ।
प्रांशु विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥३॥

बंगदेश में एकत्र होकर सामना करनेवाले शत्रुओं को रण में (अपनी) छाती से मारकर हटाते हुए जिसके खड्ग से भुजा पर कीर्ति लिखी गई; युद्ध में सिंधु के सात मुखों को उल्लंघन कर जिसने वाह्लीकों को जीता; जिसके पराक्रम के पवनों से दक्षिण समुद्र भी अब तक सुवासित हो रहा है ॥१॥

(वह) जिस का शत्रु के नाश करनेवाले यत्न का शेष रूप महान् प्रताप, बड़े वन में शांत हुई अग्नि की भाँति, अभी तक पृथ्वी को नहीं छोड़ता है, यद्यपि वह राजा खिन्न होता हुआ, इस पृथ्वी को छोड़ कर कीर्ति के द्वारा पृथ्वी पर विराजता हुआ अपने पुण्यकर्मों से प्राप्त दूसरे लोक को सदेह पहुँच गया है ॥२॥

पृथ्वी में अपनी भुजा से प्राप्त और चिरकालस्थायी एकाधिराज्य जिसने भोगा, पूर्णचंद्र के समान मुख की कांति को धारण करनेवाले उस चंद्र नामवाले राजा ने भाव से विष्णु में चित्त को समावेशित कर विष्णुपद गिरि पर भगवान विष्णु का यह ऊँचा ध्वज स्थापित किया ॥३॥

[५]

द्वितीय चंद्रगुप्त का मथुरा का शिलालेख

— — — — — — सर्वराजोच्छेत्तुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधि सलिलास्वादितयशसो धनदवरुणेंद्रांतक समस्य कृतांतपरशोः न्यायागतानेकगो हिरण्य कोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्व-मेधाहर्त्तुमहाराज श्रीगुप्त प्रपौत्रस्य लिच्छवी-दौहित्रस्य महादेव्याम् कुमारदेव्याम् उत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तस्य तत्परिगृहीतेन महादेव्याम् दत्तदेव्यामुत्पन्नेन परमभागवतेन महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्तेन················ ।

जो सब राजाओं को उच्छिन्न करने वाला था, पृथिवी में जिस की बराबरी करनेवाला कोई शत्रु न था, जिसका यश चारों समुद्रों के जल तक फैल गया था, जो कुबेर, वरुण, इंद्र और यम के सदृश था, जो यमराज (कृतांत) का मूर्तिमान् परशु (फरसा) था, न्याय से उपार्जित अनेक कोटि गौत्रों और सुवर्ण-मुद्राओं का देने वाला था, जो चिरकाल से उत्सन्न अश्वमेध का अनुष्ठान करनेवाला था, महाराज श्रीगुप्त का पड़पोता, लिच्छिवियों का दौहित्र, महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न, महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्त का, उस के द्वारा स्वीकृत किये गये, महादेवी दत्तदेवी से उत्पन्न, परम भागवत महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त के द्वारा...... ।

(शेष शिलालेख बिलकुल नष्टभ्रष्ट हो गया है।)

[६]

द्वितीय चंद्रगुप्त के समय का साँची का शिलालेख गुप्त संवत् ९३

सिद्धम् ! काकनादवोट श्रीमहाविहारे शील समाधि प्रज्ञा गुणभावितेंद्रियाय परमपुरायक्षि.........तायचतुर्दिगभ्यागताय श्रवणपुंगवावस्थायार्य्य संघाय महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त पाद-प्रसादाप्यायित जीवित साधनः अनुजीवित् पुरुष सद्भाववृतिम् (?) जगति प्रख्यापयन् अनेक समरावाप्त विजय यश सूपताकः सुकुलिदेशनष्टी......वास्तव्य उंदान पुन्नाम्रकार्दवो मजशरभंगाम्रशतराज कुल मूल्य कृतं (?)..........य......ईश्वरवासकं पंचमंडल्याम् प्रणिपत्यददाति पंचविंशतीश्च (तिश्च) दीनारान् दत्त.........यादर्धेन महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्तस्य देवराज इति प्रियानाम्.........यतस्य सर्वगुणसम्पतये यावच्चंद्रादित्यौं तावत्पंच भिक्षवो भुंजताम् रत्नगृहेच दीपको ज्वलतु । ममचापराधीत् पंचैव भिक्षवो भुंजताम् रत्नगृहे च दीपक इति । तदेतत्प्रवृतम् च उच्छिंघात् सगोब्रह्महत्यया संयुक्तो भवेत् पंचभिश्चांतर्यैरिति ॥ सम् ९०—३ भाद्रपददि० ४ ॥

सिद्धम् ! काकनाद वोट के श्रीमहाविहार में आर्यसंघ के निमित्त जिस के (महात्माओं की) ज्ञानेंद्रियाँ शील-समाधि-प्रज्ञा-गुणों से प्रभा-

वित हैं.........जो परमपुण्य के कार्य चारों दिशाओं से आये हुए, जिस में श्रेष्ठ श्रमण निवास करते हैं,—पंच मंडली में प्रणाम कर के उंदान का पुत्र अम्रकार्दव—जिसे महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त के चरणों की कृपा से जीविका के साधन पूर्ण रूप से प्राप्त हुए हैं, जिसने (राजा के) आश्रित सज्जनों के सद्व्यवहार को जगत् में प्रख्यापित किया; जिसने अनेक युद्धों में विजय और यश की पताकाएँ प्राप्त कीं; जो सुकुलिदेश में नष्टी ग्राम का रहने वाला था—वह ईश्वर वासक [गाँव] को देता है जो राजकुल के अम्रराट, शरभंग और मज के दान किये हुए धन से मोल लिया गया था और पाँच वीसी अर्थात् १०० दीनार भी देता है।

उन में की आधी अर्थात् ५० दीनारों से देवराज उपनाम वाले महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त के सब गुणों की प्राप्ति के लिये जब तक सूर्य और चंद्रमा रहें तब तक पाँच भिक्षु भोजन करते रहें और बुद्ध भगवान् के रत्न-गृह (मंदिर) में एक दीपक जले तथा शेष मेरी अन्य सुवर्ण मुद्राओं से भी पाँच भिक्षु भोजन करें और रत्न-गृह में दीपक जले। जो इस प्रवृत्त हुए (धर्म-कार्य को) नष्ट करेगा वह गो-ब्राह्मण की हत्या का तथा सद्यः फल देने वाले पाँच पापों का भागी होगा।

वर्ष ९०+३, भाद्रपद, दिवस ४ ॥

---

[७]

द्वितीय चंद्रगुप्त के समय का उदयगिरि-गुफा का लेख।

सिद्धम्। यदंतर्योतिरक्षीभमुण्यार्म (— — ˘ — —)।

[— — — — ˘ —] व्यापि चंद्रगुप्ताख्यामद्भुतम् ॥ १ ॥

विक्रमावक्रय क्रीतादास्यन्यग्भूत पार्थिवा।

[— — —] मान सरक्त धर्म्म [— — ˘ — ˘ —] ॥ २ ॥

तस्यराजाधिराजर्षेरचिंत्यो (— ˘ —) र्मनः।

अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्याप्टत संधिविग्रहः ॥ ३ ॥

कौत्सश्शाव इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया ।
शब्दार्थ न्याय लोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः ॥ ४ ॥
कृत्स्नपृथ्वी जयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः ।
भक्त्या भगवतः शम्भोर्गुहामेतामकारयत् ॥ ५ ॥

सिद्धम् ! जो भीतर से देदीप्यमान, सूर्य के समान आभा रखता है······पृथिवी पर·········व्यापी·······चंद्रगुप्त नाम वाला अद्भुत;·····

जिस के पराक्रम के मूल्य से खरीदे हुए, जिस ने दासत्व (शृंखला में बाँध कर) अन्य राजाओं को विनम्र बना दिया······

जिस ने अचिंत्य····(प्रभाव वाले) राजाधिराजर्षि के मंत्री होने की वंशक्रमागत पदवी प्राप्त की और संधि और युद्ध के विभाग में जो नियुक्त हुआ था, जो कौत्स गोत्र वाला शाब इस नाम से विख्यात हुआ था (और) कुल के नाम से वीरसेन कहलाता था, जो शब्द, अर्थ, न्याय और लोक का ज्ञाता था, जो कवि था और पाटलिपुत्र का रहने वाला था वह इस देश में राजा के साथ स्वयं आया जिस का समस्त पृथ्वी के जीतने का उद्देश्य था, और भगवान शिव की भक्ति से प्रेरित हो इस गुफा को बनवाया ॥

---

[८]

द्वितीय चंद्रगुप्त के समय का गढ़वा का शिलालेख। संवत् ८८

प्रथम भाग

परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीचंद्रगुप्त राज्यस्य (ज्ये) संवत्सरे······) अस्यां दिवसपूर्वायाम् तिथौ·········क मात्रिदास प्रमुख······पुण्याप्यायनार्थम् रचित···सदासत्र सामान्य ब्राह्मण······दीनारैर्दशभिः १०··· ॥ यश्चेनं धर्मस्कंधं व्युच्छिन्द्यात् स पंचमहापातकैः संयुक्तः स्यादिति ॥

दूसरा भाग

परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त राज्य (ज्ये) संवत्सरे ८०—८······अस्यां दिवसपूर्वायामृतिथौपाटलिपुत्र···गृहस्थस्य भार्याय······आत्म-

पुण्योपचयार्थ······सदासत्र सामान्य ब्राह्मण···दीनाराः दश १०······॥
यश्चैनं धर्मस्कंधं व्युच्छिन्द्यात् स पंचमहापातकैः संयुक्तः स्यादिति ॥

प्रथम भाग

परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त के राज्य के संवत्सर में··· ···········दिवस पूर्व उस तिथि में·····मातृदास प्रमुख·······पुण्य की वृद्धि के अर्थ·····रचित········सामान्य ब्राह्मणों का सदासत्र··· ···दस दीनारों से (अथवा अंकों में) १० ॥

जो कोई इस धर्म की शाखा को विच्छिन्न करेगा वह पाँच महापातकों से युक्त होगा।

दूसरा भाग

परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त के राज्य में; संवत्सर ८० तथा ८;···········दिवस पूर्व उस तिथि में········पाटलिपुत्र···गृहस्थ की भार्या······अपने पुण्य के उपचय के हेतु······सामान्य ब्राह्मणों के सदासत्र [के लिये] दस दीनार [वा अंकों में] १० ॥

जो कोई इस धर्म की शाखा को विच्छिन्न करेगा वह पाँच महापातकों का भागी होगा।

---

[९]

गुप्त संवत् ६१ का द्वितीय चंद्रगुप्त के समय का मथुरा का स्तंभलेख[1]

यह गु० सं० ६१ का स्तंभलेख हाल ही में मिला है। इस में 'भट्टारक महाराज-राजाधिराज' समुद्रगुप्त के सत्पुत्र 'भट्टारक महाराज-राजाधिराज' चंद्रगुप्त के नाम का और एक शैव साधु द्वारा कपिलेश्वर महा-

---

[1] आर० डी० बैनर्जी—हिन्दू विश्वविद्यालय की नंदी-व्याख्यानमाला, पृष्ठ ६१-६८।

देव के मंदिर के बनवाने का उल्लेख है। इस लेख में राजा से प्रार्थना की गई है कि वह इस धर्मकार्य की रक्षा करे।

यह नवीन शिलालेख इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि इस में द्वितीय चंद्र-गुप्त के राज्य-काल की सब से पहली तिथि का (गु० सं० ६१=ई० स० ३८०-८१) स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उसके राज्य के काल-निर्णय में अब तक साँची का ई० स० ४०१ का शिलालेख ही प्रमाण माना जाता था, किंतु मथुरा के इस नये लेख के अनुसार ई० स० ३८० के लगभग चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का राज्य-काल शुरू होना चाहिये।

---

[१०]

ग्वालियर राज्य में तुमैन गाँव का गुप्त संवत् ११६ का शिलालेख

इस लेख में द्वितीय चंद्रगुप्त, प्रथम कुमारगुप्त और घटोत्कचगुप्त का उल्लेख है। घटोत्कचगुप्त का निर्दिष्ट समय गु० सं० ११६ (ई० स० ४३६) है। अतएव, वह प्रथम चंद्रगुप्त का पिता नहीं माना जा सकता। संभवतः घटोत्कचगुप्त प्रथम कुमारगुप्त का छोटा भाई अथवा पुत्र होगा। उस के राज्य-काल में घटोत्कचगुप्त मालवा का शासक था।

---

[११]

विक्रम संवत् ५२४=ई० स० ४६७ का मंदसोर का शिलालेख

इस शिलालेख में दत्तभट्टद्वारा एक स्तूप, आराम और कूप के बन-वाने का उल्लेख है। दत्तभट्ट गोविंदगुप्त के सेनापति वायुरक्षित का पुत्र था। दत्तभट्ट गुप्तवंश के शत्रुओं का नाश करनेवाले (गुप्तान्वयारिद्रुम-धूमकेतुः) कोई प्रभाकर नाम के राजा का स्वयं सेनापति कहलाता था। कदाचित प्रभाकर स्कंदगुप्त का सामंत राजा होगा।

[१२]

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की राजकुमारी श्री-प्रभावतीगुप्ता का दानपत्र

वाकाटक ललामस्य
(क्र) म-प्राप्तनृपश्रियः ।
जनन्या युवराजस्य
शासनं रिपु शास(न)म् ॥

(१) सिद्धं ! जितं भगवता स्वस्ति नान्दिवर्धनादासीद्गुप्तादिरा(जो)(म)-हा(राज) श्रीघटोत्कचस्तस्य सत्पुत्रो महाराज श्रीचंद्रगुप्तस्तस्य सत्पुत्रोऽने-काश्वमेधयाजी लिच्छिविदौहित्रो महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तस्तत्सत्पुत्रस्तत्पादपरिगृहीतः पृथिव्यामप्रतिरथः सर्वराजोच्छेत्ता चतुरु-दधिसलिलास्वादितयशानेक गोहिरण्य कोटि सहस्रप्रदः परमभागवतो महाराजा-धिराज श्रीचंद्रगुप्तस्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुल संभूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालङ्कारभूतात्यंतभगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराज श्री-रुद्रसेनास्याग्रमहिषी युवराज श्रीदिवाकरसेनजननी श्रीप्रभावतीगुप्ता........।[1]

वाकाटक (वंश) का भूषण, राजलक्ष्मी को वंशानुक्रम से पानेवाले युवराज की माता का, शत्रुओं से भी मानाजानेवाला, यह शासन (हुक्म-नामा) है।

सिद्धि हो ! भगवान् की जय ! कल्याण हो ! नांदिवर्धन स्थान से महाराज श्रीघटोत्कच गुप्तवंश का आदि राजा था। उसका सत्पुत्र महा-राज श्रीचंद्रगुप्त, उसका सत्पुत्र, अनेक अश्वमेध यज्ञ करनेवाला, लिच्छि-वियों का दौहित्र, महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न, महाराजाधिराज श्रीसमुद्र-गुप्त; उसका सत्पुत्र, उसके द्वारा स्वीकृत किया हुआ, पृथिवी में जिसका

---

[1] इं० एंटि, १९१२, पृष्ठ २५८।

सामना करनेवाला कोइ न था, सब राजों का नष्ट करनेवाला, चारों समुद्रों के जल तक जिसका यश फैला था, अनेक गौ और सुवर्ण का कोटि सहस्र देनेवाला, परम विष्णु-भक्त महाराजाधिराज श्रीचंद्रगुप्त; उसकी पुत्री धारण, गोत्रवाली, नागकुलकी श्रीमहादेवी कुबेरनागा से उत्पन्न, दोनों कुलों की भूषण, अत्यंत भगवद्भक्ता वाकाटक महाराज श्री रुद्रसेनकी महाराणी, युवराज श्रीदिवाकरसेनकी माता श्रीप्रभावतीगुप्ता।

अनुक्रमणिका

भ

म

ल

व

श